

# कृष्णाश्रयस्तोत्रम्

॥श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ – परिचय

कृष्णाश्रयस्तोत्रका प्रणयन अडैलमें श्रीमहाप्रभुने लाहोरके बूला मिश्रकेलिए किया था. यह उल्लेख चौरासी वैष्णवनकी ४६वीं वार्ताके भावप्रकाशमें मिलता है. इसका रचनाकाल वि. सं. १५७० कहा जाता है.<sup>१</sup>

बूला मिश्रका जन्म सारस्वत ब्राह्मणके घरमें हुआ था. बूलाके पिता पुरोहिताईका काम करते थे – परन्तु और किसी तरह पढ़े – लिखे नहीं थे. बूला जब दस वर्षके हुए तो पिताने बुला कर कहा – “बेटा ! तुम ब्राह्मणकुलमें जनमें हो. कुछ थोड़ा – बहुत शास्त्रोंका अध्ययन करोगे तो सम्पूर्ण जीवन जी पाओगे. अन्यथा मेरी तरह अनपढ़ ही रह जाओगे”.

पिताने जिस पण्डितजीके पास अपने पुत्रको विद्योपार्जनकेलिए भेजा वह पूरा ‘लाभपूजापरायण’ पण्डित था. चेला पढ़ते देखकर बोला – “अच्छी तरह पढ़ना हो तो पहले पाञ्च – दस रूपया भेंटके रूपमें लाकर मेरी पूजा – भक्ति करो !” ( पाञ्च – दस रूपया आजसे पाञ्च सौ वर्ष पूर्व बहुत महंगा था. )

बूला मिश्र घबरा गये. भागकर घर आ गये. भोहें तानकर पिताने पूछा – “क्यों लोटकर घर आगये न ? अरे, यहां घरमें पड़े रहे तो ओरतोंका काम चूल्हा फूंकना ही सिर्फ सीख पाओगे. क्यों गुरुजीके घरमें रहनेमें क्या लज्जा आती है ?” बूला बोले – “अरे, यह पण्डितजी तो पढ़ानेसे पहले ही गुरुदक्षिणा मांग रहे हैं ! और यहां तो किसीके भी पास जाऊं, गति यही होगी. सो मैं तो काशी जाऊंगा पढ़ने.” बूलाके पिताजीने ताना कसा – “घरके बाहर निकलनेकी हिम्मत है नहीं और बेटा काशी पढ़ने जायेगा !”

ठेस लग गयी इस बातसे बूलाके मनपर. बूलाने अपने पिताजीके पैर छुए और घरसे बाहर निकल गये. भीख मांगकर पेट भरते हुए किसी तरह काशी पहुंचे. वहां भी भिक्षावृत्तिके अलावा कोई चारा न था पर एक पण्डितजीने पढ़ानेकी दयालुता बूलाको दिखलाई. बूलाके कठोर परिश्रमके बावजूद भी तीन वर्षकी अवधिमें कोई विशेष विद्यार्जन नहीं पाया. दोनों ही निराश हो गये, अध्यापक भी और विद्यार्थी भी. एक रोज पण्डितजीने साफ – साफ कह ही दिया – “बूला ! तुम्हारे भाग्यमें सरस्वती नहीं है. व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हो ?”

१ श्रीनागरदास बाम्भणिग्या – लिखित लेख, वैष्णववाणी अम ४ वर्ष १९७९.

बेचारे बूला मिश्र खिन्न हो गये. पण्डितजीकी पाठशालासे निकलकर शहरके बाहर गङ्गाके तटपर अन्न - जलका त्यागकर बैठ गये. ब्राह्मणोचित महत्त्वकाङ्क्षाको लिये हुए एक ब्राह्मणबालक काशीमें तीन वर्षतक रहकर भी विद्यार्जन न कर पाये तो दूसरा मार्ग और क्या हो सकता था ? बूलाने सोचा कि या तो इस तपस्यासे सरस्वती प्रसन्न होगी, नहीं तो फिर इसी तरह प्राणत्याग देना उचित है. तीन दिन बाद सरस्वतीकी वाणी सुनायी दी कि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है. भगवदिच्छा होने पर चाण्डाल भी विद्वान् हो सकता है और भगवदिच्छा न होनेपर ब्राह्मण भी मूर्ख ही रह जाते हैं.

“विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति

प्राकृताः सकलाः देवाः गणितान्दकं बृहत्,

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम.”

बूला मिश्रके भीतर विवेक तो जागा परन्तु धैर्य छूट गया. बूलाने सोचा कि यदि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार ही होता हो तो भगवान्की इच्छाको बदलनेकेलिए भगवान्के नामपर ही भूखहडताल करनी चाहिये ! ऐसा विचारकर बूला “विष्णु - विष्णु - विष्णु” जप करते हुए भूखे प्यासे बैठे रहे. अधीर होकर ही सही पर भगवान्नाम लेनेपर बूला मिश्रको भगवत्साक्षात्कार हुआ और श्रीमहाप्रभुके पास अडैल जानेकी भगवदाज्ञा भी हुई. बूला मिश्र भगवदाज्ञा पाकर अडैल पहुंचे. श्रीमहाप्रभुने इनका स्वागत किया और कहा “बूला ! तुम धन्य हो. तुमने भगवद्दर्शन पाये.” बूला मिश्रने सविनय निवेदन किया - “महाराज ! भगवत्साक्षात्कार आपकी कृपाका फल है. परन्तु भगवद्दर्शन होनेके बावजूद भगवत्स्वरूपानन्दका अनुभव मुझे नहीं हुआ !” श्रीमहाप्रभुने समझाना चाहा - “एकबार भी भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर सांसारिक मोहके बन्धनका भय नहीं रह जाता, जीव मुक्त हो जाता है.” इसपर बूला मिश्रने विनन्ति की - “महाराज ! मुझे मुक्ति नहीं चाहिये भक्ति चाहिये. अतः कृपाकर आप अपनी शरणमें मुझे लें !”

श्रीमहाप्रभुने प्रसन्न होकर बूला मिश्रको यमुनाजीमें स्नान करनेकी आज्ञा दी और पश्चात् अष्टाक्षर तथा ब्रह्मसम्बन्ध का दान दिया. समग्र शास्त्रोंके गृह्यतम रहस्यके उपदेश तथा मानसीसेवोपयोगी मनकी सिद्धिकेलिए श्रीमहाप्रभुने कृष्णाश्रयस्तोत्रकी रचना की और उसे बूला मिश्रको पढाया.

‘आश्रय’ शब्दके दो अर्थ होते हैं: १. सहारा देनेवाला २. सहारा लेनेकी

क्रिया. अतएव विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें जब - “श्रीहरिके आश्रयसे सारे अशक्य कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं (अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेद्)” कहा तो वहां ‘आश्रय’ का अर्थ शरणागति या सहारा लेनेकी क्रिया है. इसी तरह भागवतके द्वितीयस्कन्धके - “जगत्के उत्पत्ति एवम् प्रलय के कर्ता तथा उपादान रूप परब्रह्मको ‘आश्रय’ कहा जाता है (आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दयते)” इस वचनमें ‘आश्रय’ शब्द आधार या सहारा बननेवालेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. ‘आश्रय’ शब्दके इन दोनों अर्थोंको लेकर ही “कृष्ण एव गतिर्मम” में ‘गति’ शब्द प्रयुक्त हुआ है. अर्थात् भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल भी - भगवान् ही मार्ग हैं और गन्तव्य भी - भगवान् श्रीकृष्ण सभी अर्थोंमें हमारे आधार - आश्रय - गति हैं. अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” का अर्थ - कृष्ण ही हमारे आश्रय हैं और कृष्णका ही हमें आश्रय लेना चाहिये - दोनों तरहसे लिया जा सकता है.

इस जगत्में अनेक प्रकारकी जीवात्मयें हैं. कुछ जीवात्माओंमें लौकिक फलोंकी प्राप्तिकेलिए लौकिक साधनोंके आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है. प्रवाही जीवात्माओंका यह प्रमुख स्वभाव होता है. कुछ जीवात्माओंमें वेदादि - शास्त्रीय फलोंकी प्राप्तिकेलिए केवल शास्त्रीय साधनोंके ही आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती हैं. मर्यादामार्गके अन्तर्गत कर्ममार्गीय जीवोंमें यह स्वभाव बलवान् होता है. कुछ वैदिक फलोंकी प्राप्तिकेलिए वैदिक साधनोंके साथ - साथ भगवान्को भी आश्रयके रूपमें अपनाते हैं. मर्यादामार्गके अन्तर्गत ज्ञानमार्गीय उपासनामार्गीय तथा मर्यादाभक्तिमार्गीय साधकोंमें यह स्वभाव पाया जाता है. कुछ जीवात्माओंको भगवान्के अलावा अन्य किसी फलकी कामना होती नहीं है. अतः वे साधनके रूपमें भी केवल हरिका आश्रय स्वीकारते हैं. ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये (दृष्टव्य भागवतार्थ - निबन्ध ५ - ६/१२). अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” मनोभाव पुष्टिजीवका परम लक्षण है.

भागवतके बारहवें स्कन्धका वर्ण्य - विषय भी आश्रयलीला ही है. भागवतार्थ - निबन्धमें ‘आश्रय’ शब्दके अनेक अर्थ दिखलाये गये हैं.

यथा - भागवतके द्वितीय स्कन्धसे लेकर ग्यारहवें स्कन्धतक भगवान्की जिन सर्ग - विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध और मुक्ति रूप लीलाओंका वर्णन किया गया है, उन लीलाओंके कर्ता - आश्रय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. ये नवविध लीलायें लक्षण हैं और इनसे लक्षित लक्ष्य - आश्रय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. इन नवविध लीलाओंका वर्णन भागवतकारने इसी हेतुसे किया है कि जिन - जिन विभूतिरूपोंको धारण कर सर्गलीलासे लेकर ईशानुकथातक की

लीलायें भगवान् करते हैं उन सभी रूपोंके साथ भगवान्का कार्य-कारणरूप शुद्धाद्वैतरूप सम्बन्ध है. अर्थात् एक ही ब्रह्मका नाम-रूपमें विस्तार यह समग्र ब्रह्माण्ड है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म). कार्यरूप सभी लौकिक या अलौकिक विभूतिनामों तथा विभूतिरूपों को धारण करनेवाला कारणरूप परमात्मा एक ही है, ऐसा शुद्धाद्वैत-बुद्धिसे समझना आवश्यक है. हृदयसे स्नेह या आश्रय किन्तु विभूतिनाम अथवा विभूतिरूप का नहीं प्रत्युत मूलरूप श्रीकृष्णके ही नाम-रूपका होना चाहिये (ब्रह्मरूपं जगत् ज्ञातव्यं ब्रह्म जगतोतिरिच्यते इति न तत्रासक्तिः कर्तव्या). अतः प्रथमस्कन्धसे लेकर नवम स्कन्धतक वर्णित लीलायें अन्याश्रय छुड़ानेकेलिए हैं तथा दशम स्कन्धसे लेकर द्वादश स्कन्धतककी लीलायें कृष्णाश्रयके दृढीकरणार्थ हैं. हमने कह दिया है कि द्वादश स्कन्धका मुख्य वर्ण्य-विषय आश्रयलीला है. भागवतार्थ निबन्धके द्वादशस्कन्धार्थ-प्रकरणमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं-“कृष्ण एवाश्रयो मतः” यही वाक्य इस कृष्णाश्रयस्तोत्रमें “कृष्ण एव गतिर्मम” के रूपमें रखा गया है.

एवकार इतरव्यावर्तक माना जाता हैं. श्रीकृष्णके मूलरूपके अलावा अन्य सारे विभूतिरूप-लौकिक हों या अलौकिक-जड हों या चेतन-देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी इत्यादि सभी रूपोंको भक्तिमार्गीय एवम् प्रपत्तिमार्गीय आश्रयके दृष्टिकोणसे इतर माना जाता है. ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे शुद्धाद्वैतवादके अनुसार ये सर्वथा अभिन्न ही हैं परन्तु इस अभेदबुद्धिसे ये विभूतिरूप आश्रयणीय नहीं किन्तु केवल ज्ञातव्य हैं. अतएव सभी विभूतिरूप एवकारद्वारा व्यावर्तनीय माने जाते हैं. इस “कृष्ण एव गतिर्मम” के एवकारकी ही व्याख्या श्रीमहाप्रभुने-“अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च, प्रार्थना कार्यमात्रेपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्.” इस विवेकधैर्याश्रकी कारिकामें दी हैं.

अन्याश्रय-रहित केवल श्रीकृष्णका आश्रय ही उचित है, यह दिखलानेकेलिए अन्योके आश्रयकी विफलताका बोध आवश्यक है. तदनुसार इस स्तोत्रके प्रथम तीन श्लोकोंमें लोकाश्रयकी विफलताका निरूपण किया गया है तथा द्वितीय तीन श्लोकोंमें धर्माश्रयकी विफलताका. तृतीय तीन श्लोकोंमें कृष्णाश्रयकी महत्ताका निरूपण क्रमशः कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तथा भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे किया गया है. अन्तिम दो श्लोकोंमें पृथक्शरण-मार्ग अथवा प्रपत्तिमार्गके उपदेशद्वारा गीताकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी सम्पूर्ण निर्भयताका वरदान दिया है.

एक अन्य रीतिसे प्रारम्भके छह श्लोकोंमें काल, देश, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र तथा कर्म जो धर्मके आवश्यक छह अङ्ग हैं, उनकी विफलता दिखलाते हुए, द्वादश स्कन्धके वर्ण्य-विषय पञ्चविध आश्रय-कृष्णाश्रय, जगदाश्रय, वेदाश्रय,

भक्तिआश्रय तथा भागवताश्रय-के अनुरूप पाञ्च श्लोकोंमें भगवदाश्रयकी महत्ताका निरूपण किया गया है.

एक तृतीय रीतिसे देखनेपर प्रारम्भके नौ श्लोकोंमें नवविध लीलार्थ गृहीत विभूतिरूपोंका अन्याश्रय छुड़ानेकेलिए नौ श्लोकोंमें-“कृष्ण एव गतिर्मम” कहकर इतराश्रयका वारण किया है तथा दसवें श्लोकमें कृष्णाश्रयको सुदृढ किया गया है. ग्यारहवें श्लोकमें इस कृष्णाश्रयस्तोत्रकी फलश्रुति कही गयी है.

इस एक ही स्तोत्रमें वाक्पति श्रीमहाप्रभुने अनेक विवक्षाओंसे अनेकधा कृष्णाश्रयका निरूपण बूला मिश्रको समझाया है.

१. कलियुगके कारण धर्मानुष्ठानमें भी या तो आन्तरिक दुराशयकी प्रचुरता ही सर्वत्र दिखलायी देती है, या फिर ईश्वर-भजन-विरोधी उपधर्मों अनीश्वरवादी ज्ञान, वैराग्य, अहिंसा, दया, लोकोपकार इत्यादि-के पाषण्डका ही प्रचुर प्रचार दिखलायी देता हैं. इससे भगवत्प्राप्तिके कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्ग अवरुद्ध हो गये हैं. तथापि जिन्हें साधन और फल के रूपमें एकमात्र श्रीकृष्णका ही आश्रय है उन्हें किसी तरहका भय नहीं रह जाता. अतः इस कलियुगमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही गति हैं.

२. सारा देश तामसी म्लेच्छ शक्तियोंसे आक्रान्त हो गया है. लोभलालच कामुकता-व्यभिचार लूट-खसोट हिंसा-अत्याचार जैसे पापोंके अनैतिक अड्डे ही सर्वत्र चल निकले हैं. स्वधर्म-पालनका जो थोड़ा-बहुत प्रयास करते भी हैं उन्हें अनेकविध पीडा और क्लेशों से सन्त्रस्त किया जाता है. ऐसी स्थितिमें सज्जनोंका व्यग्र हो जाना स्वाभाविक बात है. ऐसी स्थितिका सामना करनेकेलिए केवल श्रीकृष्ण ही हमारे सम्बल हो सकते हैं.

३. सभी पवित्रस्थल मन्दिर, आश्रम, वन, पर्वत, सरोवर, गङ्गा आदि तीर्थ, घनलोलुप तथा दुष्कर्म-निरत धर्मध्वजी उपदेशक पण्डा पुजारी पुरोहितों से घिर गये हैं. अतः इन पवित्र स्थलोंका जैसा आधिदैविक प्रभाव प्रकट होना चाहिये वह दिखलायी नहीं देता. परन्तु जिन भक्तोंमें श्रीकृष्णकी लालसा है उनकी कभी दुर्गति नहीं होगी.

४. कर्ता धर्मका चतुर्थ अङ्ग माना जाता है. वर्तमान युगमें धर्म-भावनासे धर्मानुष्ठान करनेवाले कर्ता दुर्लभ हो गये हैं. सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डितम्मन्य लोगोंद्वारा राजसी-तामसी प्रकृतिके म्लेच्छोंके अनुसरण और अनुकरण के रूपमें

किये जा रहे हैं. और तिसपर भी धन और यश की लोलुपता ही इनका मुख्य हेतु होता है. फिर भी बुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका जिन्हें आश्रय है उन्हें ऐसी श्रुद्र लालसाओंसे ही बचायेंगे.

५. धर्मके पाञ्चवे आवश्यक अङ्ग मन्त्रोंमें भी अब वह प्रभाव नहीं रह गया है. किसी योग्य अधिकारी गुरुके समक्ष प्रणिपात, परिप्रश्न और परिचर्या की शास्त्रीय विधिके अनुसार तत्तद् मन्त्रोंके विभिन्न न्यास तात्पर्य और विनियोग के परिज्ञान तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रत एवम् शुद्धि के पालनपूर्वक दीक्षाग्रहण करनेसे मन्त्रोंमें प्रभाव उत्पन्न होता है. इसके विपरीत आजकल अयोग्य - अनधिकारी व्यक्तियोंसे अशास्त्रीय विधिसे न्यासादिके परिज्ञानके बिना तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रतादि शुद्धिके बिना ही मन्त्रग्रहणकी रीति चल पड़ी है. अतः मन्त्रकी आधिदैविक अथेशक्ति तिरोहित हो गयी है. फलतः सभी मन्त्र प्रभावहीन और निष्फल हो गये हैं. परन्तु श्रीकृष्ण तो मन्त्रशक्तिके अधीन नहीं हैं, प्रत्युत सभी मन्त्रशक्तियाँ श्रीकृष्णके अधीन हैं. अतः श्रीकृष्णका ही आश्रय लेना चाहिये.

६. धर्मके छठे आवश्यक अङ्ग कर्मका भी स्वरूप भ्रष्ट हो गया है. क्यों कि जगत्में अनेक प्रकारके वाद चल निकले हैं. जो कर्म शास्त्रदृष्ट्या आवश्यक होते हैं उन्हें ये वाद निरर्थक मान लेते हैं. जो कर्म शास्त्रीय दृष्टिसे बहुत आवश्यक नहीं होते उन्हें ये वाद अनिवार्य सिद्ध करते हैं. जो वाद शास्त्रोंका प्रामाण्य मानते हैं वे भी अर्धश्रद्धासे शास्त्रोंके मनःकल्पित अर्थ निकाल लेते हैं. शास्त्रोंके इस तरहके अन्यथा व्याख्यानके कारण भ्रान्त अनुयायी शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान भी अन्यथा रीतिसे करने लग जाते हैं. जैसे अकरणसे कर्मोंका स्वरूपतः नाश होता है वैसे ही अन्यथाकरणसे कर्मोंके फलतः नाश होता है. प्रायः यथाविधि कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले भी केवल दुनियाको दिखानेकेलिए कर्मानुष्ठानका पाषण्ड ही करते हैं. अतएव कर्मोंका प्रभाव ही क्षीण हो गया है. फिर भी अन्याश्रय - दोषणहित होकर श्रीकृष्णमें आश्रयभाव रखना कभी निष्फल नहीं जाता. अतः कृष्ण ही अब केवल आश्रयणीय रह गये हैं.

इस तरह प्रथम तीन श्लोकोंमें लोकनाश एवम् द्वितीय तीन श्लोकोंमें धर्मनाशके निरूपणके बाद, अब जैसे कि भागवतके बारहवें स्कन्धमें पञ्चविध आश्रयका निरूपण माना गया है, तदनुसार श्रीकृष्णकी आश्रयरूपताका भी पाञ्च ही श्लोकोंमें वर्णन किया गया है. सातवें श्लोकमें कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे, आठवें श्लोकमें ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे, नौवें श्लोकमें भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे तथा दसवें - ग्याहवें श्लोकमें प्रपत्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय हैं, यह दिखलाया जा रहा है.

७. कृष्ण सर्वोद्धारक है अतः सुसाधन, निःसाधन एवम् दुष्टसाधन जीवोंका भी उद्धार करनेमें समर्थ है. अजामिलका उपाख्यान भागवतके छठे स्कन्धमें उपलब्ध होता है कि कैसे - कैसे निन्दित कर्मोंमें निरत होनेपर भी भगवदनुग्रहवशात् उसके सारे कर्मदोष बिना नरकयातनाके ही नष्ट हो गये. अतः कर्ममार्गीय दृष्टिसे केवल श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय हैं, अजामिलके प्रसङ्गमें जैसे भगवान्ने स्वयम्के नामका माहात्म्य प्रकट किया. इसी तरह श्रीकृष्णके ध्यान, अर्चन आदिका भी माहात्म्य वहां दिखलाया गया है. मूलतः कृपा ही साधन है. बाकी उद्धारका व्यापार या व्याज तो भगवान् शास्त्रतः विहित अविहित या निषिद्ध कर्मोंको भी बना सकते हैं. श्रीकृष्णका यही तो माहात्म्य है कि वे काम, भय, द्वेष, सम्बन्ध, स्नेह या भक्ति किसी भी भावमूलक कर्मको अपने अनुग्रहके प्रकट होनेका निमित्त बना सकते हैं. अतः “कृष्ण एव गतिर्मम.”

८. ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे भी आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र एवम् प्रजापति; अथवा अग्निसे लेकर ब्रह्मा - विष्णु - शिव पर्यन्त तेतीस कोटी देव सभी भगवान्के अंश - कलावतार - रूप हैं तथा भगवान्की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया या प्रकृति के द्वारा लिये गये भगवद्रूप हैं. अतः वे स्वयम् आविर्भाव - तिरोभावशाली हैं. अक्षरब्रह्म यद्यपि देशतः, कालतः तथा स्वरूपतः अपरिच्छिन्न एवम् पुरुषोत्तमसे अविच्छिन्नतया स्थित होता है तथापि अक्षर ब्रह्म भगवान्का ज्ञेयरूप है भजनीय रूप नहीं. अतः अक्षरब्रह्मका गणितानन्दकी तरह अनुभव होता है, पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी तरह अगणितानन्दके रूपमें नहीं. अतः उपासनामार्गीय देवोंकी और ज्ञानमार्गीय अक्षरब्रह्मकी तुलनामें भी उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन या भजनीयत्वेन भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है.

९. भक्तिमार्ग दृष्टिकोणसे भी पूर्ण विवेक, धैर्य या भक्ति आदिके अभावमें भी - मन कितना भी पापासक्त क्यों न हो परन्तु दैन्यके साथ एकबार जीव शरणागत हो जाता है तो सुदुराचारीको भी साधु - पुरुष बना देनेवाली श्रीकृष्णकी भक्तिका लाभ हो ही जाता है.

१० - ११. प्रपत्तिमार्गमें तो स्वयम् प्रभुने - “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः” कहा है. अतः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ - सर्वसमर्थ तथा भक्तोंके अखिल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण यदि शरणागत जीवोंका उद्धार नहीं करेंगे तो और कौन करेगा ? अतः श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिजीवोंको आश्वस्त करना चाहते हैं कि इस कृष्णाश्रयस्तोत्रका जो

श्रीकृष्णकी सन्निधिमें पाठ करेगा उस पाठकर्ताके श्रीकृष्ण आश्रय बनेंगे. जैसे अखिल ब्रह्माण्डके नाथ होनेपर भी अपने आश्रित ब्रजभक्तोंकेलिए छोटेसे गोकुलके नाथ श्रीकृष्ण बने हीं हैं !

बूला मिश्रको हम देख सकते हैं कि इसी कृष्णाश्रयस्तोत्रके कारण न केवल विद्वदुलर्भ वाक्सिद्धिकी प्राप्त हुई अपितु मानसी-सेवोपयोगी अलौकिक मन भी सिद्ध हो गया (अलौकिकमनःसिद्धौ शरणं भावयेद् हरिम्). विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें कहे गये विवेक और धैर्य सिद्ध हों या न हों पर ऐहिक-पार-लौकिक सभी विषयोंमें श्रीकृष्णका आश्रय सभीकेलिए सर्वदा हितकारी ही होता है. इसी कृष्णाश्रयको दृढ़ करनेकेलिए इस स्तोत्रकी रचना की गयी है.

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ

तस्याश्रयो भवेत्कृष्णः इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उक्त संस्करण गोस्वामिकुलभूषण श्रीरणछोडलालजी महाराजके “श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय”से प्रकाशित हुआ था तथा उसके सम्पादक थे श्रीहरिकृष्णजी शास्त्री. इन दोनों महानुभावोंका हम पुनर्मुद्रणावसरपर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

श्रीकृष्णाय नमः ।

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥१॥

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥२॥

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरवोवृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥३॥

अहमारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥४॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥५॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥६॥

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥७॥

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥८॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥९॥

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।

शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥१०॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥११॥

इति श्रीमद्वल्लभन्दनचरणकृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं सम्पूर्णम् ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

य आविरासीद्धोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः ।

निजदास्यं स नो देयादव्यादपि दुराश्रयात् ॥१॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥१॥

सर्वमार्गेष्विति. सर्वे कर्मज्ञानोपासनादयस्ते मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरिति मार्गा इष्टप्राप्त्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सत्सु. अनेन जीवानां सर्वथैवागतिकत्वं सूचितम्. एवंविधेऽप्यशक्येथे मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव गतिः शरणं, प्राप्तव्यर्थ आश्रयणं च. अत्रास्तित्वपदं व्याख्यानेऽध्याहार्यम्. एवकारेणान्यनिषेधः सूचितः. किं च, कालकृतोपद्रवेणाप्यगतिकत्वं कलौ चेत्यनेनाहुः कलाविति. बहिर्धर्मरूपाभासोन्तर्दोषग्रस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो यस्मिन्कलौ. खलानां दाम्भिकहेतुकपाषण्डिनामेव धर्मो यस्मिन्निति वा, क्वचि'त्वरधर्मिणी'त्यपि पाठः श्रूयते, तत्रापि खरो रौद्रौ धर्मो यस्येति, अत्रैवं व्युत्पत्तिः खरश्चासौ धर्मश्चेतिकर्मधारये कृते पश्चान्मत्वर्थीय “इनि'प्रत्ययः, नो चेद्बहुव्रीहौ 'क'प्रत्ययः. प्रसज्येत. चकारात्कर्मज्ञानाद्यतिरोधानेषु कल्यतिरिक्तकालेष्वपि. किञ्च, पाषण्डो वेदबाह्यो धर्मः, स प्रचुरः अधिको यस्मिन्, एवंविधे लोके व्यवहार्यजनतायां सत्यां, सर्वप्रकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि फलितार्थो ज्ञेयः. अत एव 'बृहन्नारदीये'प्युक्तं, “हरेर्नामैव नामैव - नामैव मम जीवनम्. कलौ नास्त्येव नास्त्येव - नास्त्येव गतिरन्यथे'ति. अत्र सर्वत्रापि क्वचिन्निमित्तसप्तमी, क्वचि “दर्हाणां कर्तृत्वं” इत्यनेन सप्तमी ज्ञेया ॥१॥

धर्मोत्पत्तौ बाह्याभ्यन्तरभेदेन बाधमुद्धावयन्त्यो निष्पत्त्यूहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति.

१ आश्रयो वेति पाठः.

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥२॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति. धर्माद्यर्थिभिर्वासयोग्येषु देशेषु कुरुक्षेत्रगङ्गातटादिषु म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु सत्सु, अत्रोभयथा म्लेच्छा ज्ञेया जात्या कर्मणा च. नन्वेवंविधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो भविष्यक्त्येव तैः सह धर्माद्याचरणं कुतो नेत्यत आहु - पापैकेति. कलिना ग्रस्तत्वात्पापस्यैवैकस्य निलयाः स्थानभूता जाताः. चकारादनेवंविधेष्विति. एतेन धर्मादिषु बाह्यसाधननिवृत्तिकता. तर्ह्याभ्यन्तरसाधनं स्मरणादि कुतोनेत्यत आहु - सत्पीडेति. सतां सत्पुरुषाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि यादृशी पीडा नोचिता तादृश्या अपि दर्शनादन्येषां विश्वासशैथिल्येन व्यग्रेषु विक्षिप्तचित्तेषु कर्तव्यतामूढेषु लोकेषु सत्सु. कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥२॥

ननु गङ्गादिपूर्वोक्तपुण्यदेशानां वस्तुसामर्थ्येन साधनत्वं कुतो नेत्याशङ्क्य वस्तुसामर्थ्यतिरोधानान्न तथात्वमिति समाहितपूर्वकं कृष्णाश्रयमाहुः

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरवोवृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥३॥

गङ्गादीति. आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिभेदेन त्रैविध्यं तीर्थादावप्यस्ति तत्र 'पुरुषश्चाधिदैवत'मितिवचनाद्भगवद्रूपमेव तीर्थादौ सामर्थ्यरूपेणास्तीति मन्तव्यं, तच्च भगवदिच्छयेदानीं बहुधा तिरोहितं, न तु सर्वथा, अत एवंविधेषु गङ्गादितीर्थवर्येषु तीर्थमुख्येषु म्लेच्छादिभिः केवलदुष्टैरावृतेषु सत्सु, इह अस्मिन् भूलोके काले वा कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववत् ॥३॥

अहमारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥४॥

अहमारेति. किञ्च, वयं सर्वज्ञाः के वास्मत्तोधिकवेत्तारो यान् वयं पृच्छाम इत्येवंविधाहमारेण विशेषतो मूढेषु आत्मोद्धारोपायज्ञानशून्येषु, 'लोकेष्वि'तिपदं पूर्वस्मादध्याहार्यम्. किञ्च, सत्सु महापुरुषेषु पापं दुष्टाचरणमपकार इति यावत्, तमनुवर्तयन्त्यनुतिष्ठन्ति ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु सत्सु, अथवा जीविकाद्यर्थं सत्सु सत्पुरुषेषु पापानुवर्तिषु निषिद्धाचरणपरेषु. किंविशिष्टेषु तेषु लाभपूजेति. लाभो द्रव्यादेः

१ गङ्गाप्रयागेष्विति पाठः. २ साधकत्वमिति पाठः. ३ उच्यते इति पाठः.



पूजा स्वोन्नतिपूर्वकं लोककृतसन्माननं, अर्थः स्वप्रयोजनं, एतन्नित्यसिद्ध्यर्थमेव यत्न उद्यमो येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥४॥

**अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।**

**तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥५॥**

**अपरिज्ञानेति.** वृद्धजनगुर्वाद्युपसत्यभावेन विद्योपशमात्पाठार्थविनियोगा

दिनामपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु तिराहितेषु सत्सु, पुनः किंविशिष्टेषु अव्रतयोगिषु अव्रतेषु व्रतभ्रष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एषामेतेनैर्विविधेष्वतिरोहितानामप्य किञ्चित्करत्वमेव. यद्वा, स्वस्वाश्रमस्था योगिन उच्यन्ते तेष्वप्यव्रतेषु सत्सु. पुनः किंविशिष्टेषु तिरोहितार्थदेवेषु. तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद्वयं येषां मन्त्राणां न ज्ञायते तैः कियानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥५॥

**नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।**

**पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥६॥**

**नानावादेति.** कृतार्किकवौद्धाद्यागमोक्ता ये वादा वाग्जालरूपाः “यावज्जीवेत्सुखं जीवेदि”त्येवंरूपाः, तैः कृत्वा वैदिकागमाद्युक्तसर्वकर्मव्रतादिषु विनष्टेषु विशेषतो नष्टेषु नास्तिक्येन पराङ्मुखेषु सत्सु. किञ्च, पाषण्डेषु वेदादिविरुद्धार्थेष्वेव एकः असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥६॥

विश्वासार्थं सदृष्टान्तमाश्रयणमाहुः :

**अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।**

**ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥७॥**

**अजामिलादिदोषाणामिति.** शूद्रीभर्तुर्ब्रह्मबन्धोरजामिलनाम्नो दोषाणां महापातकानां नाममात्रेण नाशकोऽस्माकमनुभवै स्थितः, शाब्दानुभवे अन्तःसाक्षिप्रत्यक्षे वा स्थितौ विषयीकृत इति यावत्. ‘आदि’ पदाद्गजेन्द्रप्रभृतयः, यमलोकस्थिता नारकिणश्च. इदं नृसिंहपुराणादौ प्रसिद्धम्. ज्ञापितं दैवजीवेष्वखिलं समग्रं निजमाहात्म्यं येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥७॥

१ आचार्योपसत्यभावेनेति पाठः.

**प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।**

**पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥८॥**

**प्राकृता** इति. सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते **प्राकृताः**, प्रकृतिर्माया तन्निबन्धनोत्पत्तिस्थितिविलया, अतस्तेषामाश्रयणं न कालादिभयनिवर्तकं प्रत्युत भयजनकमेव. अत एवोक्तं दशमे “मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्ति”त्यादौ. तर्हि बृहदक्षरं तथास्त्विति चेत्तदपि नेत्याह **गणितानन्दकमिति.** ब्रह्मापेक्षया शतगुणितानन्दत्वेनापरिमितानन्दत्वाभावात्पुरुषोत्तमापेक्षयात्पत्वाद्धरेः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वादखण्डितानन्दत्वात्सर्वरूपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥८॥

**विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।**

**पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥९॥**

**विवेकेति.** “विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती”त्येवंरूपः, त्रिविधदुःखसहनं धैर्यपदार्थः. भक्तिपदेन क्रमायातमाश्रयणयुच्यते. **आदिपदेन** तत्साधनान्युच्यन्ते. एतेषां विविच्य निरूपणं तु ‘विवेकधैर्याश्रय’व्याख्याने कृतमस्ति तत एवावगन्तव्यम्. विवेकादिभगवद्धर्मरहितस्य मम कृष्ण एव गतिः. किञ्च, न केवलमेतद्वाहित्यमपि तु **विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य** महापातकाचरणतस्यापि. पापवर्जनेऽसमर्थत्वाद्ग्लान्या **दीनस्य.** भगवताप्ये तादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता “मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनय”इति, “अपि चेत्सुदुराचार” इत्यादौ ॥९॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वप्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः

**सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।**

**शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥१०॥**

**सर्वसामर्थ्येति.** कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितस्त्वं मम प्रभुः. किंविशिष्टः **सर्वत्रैव** यत्र क्वाप्यखिलान्सर्वान्वाञ्छितानर्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् यतस्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् **कृष्ण** हे परब्रह्म ! शरणस्थस्य शरणागतस्य सम्यगुद्धारं विज्ञापयामि अहं त्वत्पुरः स्थितः शरणार्थी ॥१०॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः :

१ अन्यथाकरणेति ख.ग.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशप्रकाशितम् ।

यल्लीलवसंस्पर्शन रोचन्तेऽन्यदाशिषः ।

तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥१॥

यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मदा ।

भक्त्याहं तान्निजाचार्यानभिवन्देऽर्थसिद्धये ॥२॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वात्स्वीयानां तदर्थं वरप्रदानमिव कुर्वन्तः श्रीमदाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति. तत्राधुना देशादिषट्साधनानामसाधकत्वं वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वसाधनरूपश्चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति, प्रणानामिवास्य स्तोत्रस्य सर्वसाधकत्वमिति च दशभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तं स्तुवन्ति. तत्र प्रथमं मुख्याङ्गत्वात्कालस्य तत्रासाधकत्वं वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकमाश्रयं प्रार्थयन्ते :

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥१॥

सर्वमार्गेष्विति. कलौ खलधर्मिणि खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मस्तद्वति सति. 'खलधर्मिणी'तिपाठे दुःसहचेष्टिते कलौ सतीत्यर्थः. 'कृषिर्भूवाचके'तिवाक्यनिरूप्यः सदानन्दः पुरुषोत्तम एव मम गम्यत इति गतिराश्रय ऐहिकपारलौकिकार्थसाधकोस्त्विति शेषः. खलधर्ममाहुःलोके जने पाषण्डः प्रचुरः सर्वापेक्षयाधिको यस्मिस्तादृशे सति. अत एव सर्वे मृग्यन्त इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानादयस्तेषु नष्टप्रायेषु सत्सु, पाषण्डप्रवेशादात्मसुखवाचकस्वर्गपदस्य लोकभ्रमजननाच्चित शुद्ध्यजननात्कर्ममार्गस्य, मायावादाभिनिवेशाज्ज्ञानमार्गस्य, निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्य, विभूतिपरत्वादुपासनामार्गस्य च मुख्यफला साधकत्वेन नष्टप्रायत्वम्. चकारान्महादेवादिषु कलिकालानुगुणेषु सत्सु, एवकारस्य

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥११॥

कृष्णाश्रयमिति. कृष्ण आश्रीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः प्रतिपाद्योर्थो यस्येति वा. इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि'पदात्तदनन्यभक्तसमीपेपि पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानभिज्ञस्यापि स्वयमेव कृष्ण आश्रयो भवेत्. कथमिदमिति दुर्लभमेतावन्मात्रेण भवेदिति नाशमनीयं, यतः कारणात्. इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्. इति इममर्थं श्रीवल्लभ आचार्यवर्योऽब्रवीदुक्तवानतः किमाश्चर्यम्. अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका, यतस्तद्वचनैः प्रेरितो भगवांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतमण्वपि साधनमपेक्षते ॥११॥

सुखेन श्रीयतां कृष्णः किमाधेश्चिन्तया मुधा ।

आचार्यवाक्सुधासिक्ता माकृड्ढ्वं संशयं जनाः ॥२॥

आचार्यचरणाम्भोजे दृढं विश्वस्य विस्तरात् ।

रघुनाथश्चकारेदं कृष्णाश्रयविचारणाम् ॥१॥

इति श्रीमद्रुल्लभन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ

कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं सम्पूर्णम् ।



विशेष्यान्वितत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वादंशः<sup>१</sup> कलादियां गतिर्मास्वित्यर्थः. अन्यार्थकत्वादस्य सिद्धत्वेऽपि प्रार्थनं न दोषाय. ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कलिकालस्य बाधकत्वाद्वृहाद्यासक्तिमत्त्वलौकिकक्रियापरत्वात्पापसम्भवाच्च भक्तिमार्गस्य कथमुद्धारकत्वं मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, मैवं, भक्तिमार्गे स्वदुक्तदुष्णानामभावात्. तथाहि - ‘कलेर्दोषनिधे’रिति “कलौ तद्धरिर्कीर्तनादि”ति “कलि सभाणुगणन्” “मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः” “तावद्रागादयः स्तेना” इत्यादिवाक्यैर्भगवत्परत्वे गृहादेर्बन्धहेतुत्वाभावात्. “एवं नृणां क्रियायोगा” इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रियाया अप्यलौकिकतुल्यत्वात्. “मत्कर्म कुर्वता” मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकरणेऽपि प्रत्यवायाभावान्, “धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः” “ते मे न दण्डमर्हन्ती” त्यादिवाक्यैः कदाचित्पातकसम्भवेऽपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात्. “सर्वधर्मान्परित्यज्य” “अपि चेत्सुदुराचारः” “यः कश्चिद्वैष्णवो लोके, “यानास्थायै”त्यादिवाक्यैराचाराद्यभावेऽपि फलसिद्धेः. “धर्मः सत्यदयोपेतः” “धर्मः स्वनुष्ठितः” “नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जित” “यमादिभिर्योगपथैः” “श्रेयःसुति”मित्यादिवाक्यैर्“यथा जलौकसां नित्यं जीवनं सलिलं मतम्. तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यत” इतिबृहन्नारदीयवाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनामसाधकत्वात्, भक्तिसहितानामेव साधकत्वात्. ‘यत्कर्मभिर्यत्तपसा’ ‘चतुर्विधाः’ ‘अकामः’ ‘ज्ञाने प्रयासमुदपास्य’ ‘किमलभ्य’ ‘रूपमारोग्यमर्था’नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात्. “परिनिष्ठतोषि नैर्गुण्ये” “आत्मारामाश्च” ‘नैकात्मकता’ ‘महतां मधुद्वि’डित्यादिवाक्यैः स्वतोऽपि फलरूपत्वात्. अधुना कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे महदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सफलत्वादत्राधिकारभेदेन गौणमुख्यफलसम्भवात्. एतदुक्तं ‘तत्त्वार्थदीपे’ : “अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ. कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही”ति भक्तिसाध्यफलस्यान्येनासम्भवादस्यसाध्यस्य भक्तेरानुषङ्गिकत्वान्न कर्मादितुल्यत्वगन्धोपि. ननु पूर्णभक्तिमार्गस्याधिक्येपीह सामिकृत्य तत्तुल्यत्वमिति चेत्, न ‘स्मर्तव्यः’ ‘स्मृतेः’ ‘कृष्ण-कृष्ण’ति “न वै जनो जातु” ‘कृष्णेति’ ‘अलोडचे’त्यादिवाक्यैः सामिकऽतस्यापि फलसाधकत्वादस्य तदभावादलमुक्तिभिः ॥१॥

१ एवकारोहि त्रिप्रकारकः अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोत्यन्तायोगव्यवच्छेदकश्चेति, विशेष्यान्वितः प्रथमो यथा पार्थ एव धनुर्धरः, विशेषणान्वितो द्वितीयो यथा शफ पाण्डुरेव, क्रियान्वितस्तृतीयो यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति. २ क्वचिन्नास्ति.

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

मिलिन्दवृन्दोपमचारुकेशं सुभक्तशेषं सुखकारिदेशम् ।

पयोदनीकाशमनोज्ञवेशं तं वेमटेशं शरणं प्रपद्ये ॥

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणे शरणे सताम् ।

कृष्णाश्रयप्रकाशस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥

संस्पर्शादिति. सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः. सम्बन्धे सम्यक्त्वं चात्रान्यापरिभूतत्वम्. अन्यदाशिष इति. न च अन्याश्च ता आशिषश्चेति विग्रहे अन्याशिष इति भाव्यमिति वाच्यम्, “अषष्ठ्यतृतीयास्थस्ये”ति दुगागमात्. राधाहृदयानन्ददायकमिति. राधाहृदयानन्दं ददातीति. तथा. भगवत्सुखस्यानन्दरूपत्वान्नानुपपत्तिः काचित्, इतरथाऽव्याप्यवृत्तित्वेन सुखकथनस्यैवोचितत्वात्. अत एवोक्तं ‘प्रेमामृत’टीकायाम् “आनन्दोन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यवृत्ती”ति. ननु “आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि” “सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे”त्यादिभिः श्रुतिभिरानन्दस्य भगद्वृत्तात्स्वदायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्योचितत्वात्. एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते. तदुक्तमाथर्वणीयकृष्णोपनिषदि “पूर्णप्रेमास्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोद्भवा”, तस्मान्न भिन्नेति. यत्कऽपादृष्टि इति. स्वीयत्वेन परिग्रहादित्यर्थः. अभिवन्द इति. भक्त्यार्थसिद्धये निजाचार्यानभिवन्द इति सम्बन्धः. तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्ध्यर्थं निजाचार्यनमस्काररूपं मङ्गलं करोमीत्येतद्व्याख्याः. सेवा तत्र नमनादिरूपा. न च प्रेमविशिष्टसेवयेति वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात्. तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे “धात्वर्थः सेवा प्रत्यार्थः प्रेमेति”. तत्त्वार्थदीपे तु ‘प्रेमसेवा’ इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा “प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थे विशेषणमि”तिन्यायविरोधः स्यात्. वस्तुतस्तु एतस्य सामान्यन्यायत्वेन विशेषणन्यायस्यैव बलीयस्त्वात्. एतदुक्तं विवरणे ‘प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमितिसामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शाब्दसाधनतान्वय इति स्वर्गकामादिवाक्ये क्लृप्तविशेषणन्यायस्य बलीयस्त्वादश्वेन जिगमिषति असिना जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेश्वादिरूपसाधनस्य तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यं मन्तव्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तव्यार्थभूतविधेश्च ‘सन्’प्रत्ययाभिहितेच्छाविषय एव गमनादावन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोग इति. ननु ‘भावे’ इत्याधिकांशप्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु प्रेमत्वमिति चेत्,

अत्रोच्यते, भावार्थकत्वं तु प्रत्यस्य तावदुभयवासिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते सर्गः. पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः. उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्. स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम्. पुष्टानामाचार ऊतिः. तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम्. तत्रापि विष्णुभक्तिरीशानुकथा. भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः. निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः. मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति. दशविधभक्तसेव्य इति. सात्त्विकसात्त्विकाः, सात्त्विकराजसाः, सात्त्विकतामसाः. राजसराजसा, राजससात्त्विका, राजसतामसाः. तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससात्त्विकाः. एके निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः. प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति. “किमासनं ते गरुडासनाये”त्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः. गम्यते प्राप्यत इत्यर्थः. ननु ‘भावे’ इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्यम्, “कृत्यल्युटो बहुल”मित्यत्र ‘बहुल’मितियोगविभागात्तथा. अत एव “एवं च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां हियते पादहारकः कर्मणि ण्वुल्” इति वैयाकरणशिरोमणयः. पाषण्ड इति. वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वम्. आत्मसुखवाचकेति. “यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्. अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद”मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखवाचकत्वादित्यर्थः. लोकभ्रमजननादिति. लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः. मायावादाभिनिवेशादिति. विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायोपहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनामित्यर्थः. विवर्तस्तु अतात्त्विकोऽन्यथाभासः. यद्वा, वस्तुनस्तदसमसत्ताको विवर्तः. अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः. कारणभेदं विनैव तदव्यतिरेकेण दुर्बलं कार्यं विवर्त इति वा. निरीश्वरत्वाङ्गीकाराद्योगस्येति. निर्बीजयोगाङ्गीकारादित्यर्थः. योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्ध्ययानार्थमङ्गत्वेनोपयुक्त एकः. ध्यानाभावेप्यात्प्रबोधाङ्गभूतो द्वितीयः. उभावपि प्रामाणिकौ. यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा वा तथान्ये देहेन्द्रियादिसाधकास्तेऽप्रामाणिकाः. सर्वभेदतच्च निबन्धे स्पष्टम्. कलिकालानुगुणेष्विति. “द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु. स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु” “मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे”त्यादिपद्मपुराणाद्युक्तवचनैर्महादेवादीनां कलिकालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः. अन्यार्थकत्वादिति. अत्र प्रमाणभूताः “शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम. ममाग्ने वचो विहवेष्वास्ति”त्यादय आगमा अनुसन्धेया इति भावः. “कलेर्दोषनिधे”रित्यारभ्या“भवोपि फल्गु”रित्यन्तानां वचनानां

सङ्ग्रहः “कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः. कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्” कृते यदध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः. द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्भरिर्कीर्तनात्” “कलिं सभाजयक्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः. यत्र समीर्तनादेव सर्वः स्वार्थोपि लभ्यते” “शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते. क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोरविष्टचित्तो न भवाय कल्पते” “गृहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम्. मद्गतायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः” “तावद्वागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्. तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः” “एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः. त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे” “मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि. तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः” “स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्वक्तान्यभावस्य हरिः परेशः. विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः” “एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्. ते मे न दण्डमर्हक्यथ यद्यमिसां स्यात्पातकं तदपि हक्त्युगारुगायवादः” “ते देव सिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपनाः. तान्नोप्रसिदत हरेर्गदयाभिगुक्तान्नैषाम वयं न च वयः प्रभवाम् दण्डे” “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज. अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच” “अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्. साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्यवहितोहि सः” “यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोप्यनाश्रमी. पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिबोदितः” “यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित्. धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्वलेन पतेदिह” “धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या वा तपसान्विता. मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपनाति हि” “धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः. नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्” नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्. कृतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्” “यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः. मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्वा न शाम्यति” “श्रेयःसुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये. तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्” “यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्. योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि” “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा” “चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोर्जुन. आतो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ” “अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः. तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्” “ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्. स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोजित

जितोप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्” . “किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने. तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन” “रूपमारोग्यमर्थाश्च भोगाश्चैवानुषङ्गकान्. ददाति ध्यायतो नित्यमपवर्गप्रदो हरिः” “परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये उत्तम श्लोकलीलया गृहीतचेता राजर्षे आख्यानां यदधीतवान्” “आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युत्क्रमे. कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः” “नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः. येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि” “महतां मधुद्विदं सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु” रिति. भक्तिसाध्यफलस्येति भगवत्स्वरूपपाप्तेरित्यर्थः. तदुक्तमस्मत्प्रभुभिर्भक्तिहंसे” “भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्व” मिति. ‘स्मर्तव्य’ इत्यारभ्य ‘तदभावा’ दित्यन्ते वचनानि तु स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्. सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किमराः” “स्मृतेः सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते. पुरुषं तमजं नित्यं ब्रजामि शरणं हरिम्” “कृष्ण कृष्णेति – कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः. जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्” “कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते. भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः” “न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्. स्मरन्मुकुन्दाङ्गयुगलं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः” “आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः – पुनः. इदमेकं सुनष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे” ति. तत्र नवविधा भक्तिर्निदानं, ततःप्रेम, तेन च विशिष्टरूपभगवत्प्राप्तिः, सैव फलमिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम्. अत एव सर्वनिर्णये “सज्ञानक्रियोभयतयुतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रेमैव तत्साधनं नवविधा भक्ति” रिति श्रीमदाचार्यवर्याः. तथा च सामिकृतस्यापि स्मरणपर्यन्तं विहितस्यापि कायवाग्विनियोगस्नेहाभावेपि मनोपात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा फलसाधकत्वमिति स्पष्ट एवेतरेभ्य उत्कर्षः. तथाचोक्तं निबन्धे : “कायवाग्विनियोगाभावेपि स्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि” ति. कर्ममार्गस्य तु न तथा, साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावनियमादिति तत्त्वम् ॥१॥

### प्रकाश

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमितीतरव्यवच्छेदपूर्वकमाश्रयप्रार्थनमित्याशङ्क्य देशानामसावकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते:

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥२॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति. देशेषु हीनैराक्रान्तेषु सत्सु. ननु म्लेच्छा अपि न्यायवर्तिनश्चेत्तदा को दोषस्तत्राहुः पापैकनिलयेष्विति. पापरूपा एव ते तदेकनिलयेषु, पापा ये मुख्यास्तन्निलयेषु, पापस्य वा. अथवा पूर्वोक्तषु पापैकनिलयेषु च अङ्गबङ्गादिषु यत्र मनमात्रेण पुनः संस्कारसम्भवः. ननु लोका वणिजादयः समीचीनश्चेत्पापैः

१ अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च. तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हतीति स्मृतेः.

किं कार्यमत आहुः सदिति. साधूनां पीडया व्यग्राः स्वधर्माचरणमेवानिष्टहेतुः प्रत्यक्षत्वान्न कार्यमुत प्राकृतं कर्म येति व्याकुला लोका येषु. सद्गर्मस्य शुभहेतुत्वानिश्चयेन श्रद्धाद्यभावात्तेपि सहाया न भवन्तीत्यर्थः. “अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः. यैर्जन्म लब्धं नृपु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न” इत्यादिवाक्यैर्देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात्. शेषं पूर्ववत् ॥२॥

### टिप्पणम्

पापा ये मुख्या इति. फलितार्थकथनमेतत्, इतरथा विशेषणसमासे ‘पूर्वकालैके’त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात्. विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति. यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसम्भव इति. “अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च. तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हती”त्यनेन तथेत्यर्थः ॥२॥

### प्रकाश

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धे किं केवलाश्रयेणेत्याशङ्क्य द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।

तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥३॥

गङ्गादीति. गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः पुरुषार्थसिद्धिः. ननु कथं दुष्टैरेवावृतत्वं तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरिचयादनादरेण तत्र भक्त्यभावेन प्रतिग्रहाद्यपाधिभिरवस्थानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव. ननु सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वमसम्भवीति चेत्, न, “सर्वेण गाङ्गेन जलेन सम्यङ्मुत्सनाशतेनाप्यथ भावदुष्टः. आजन्मतः स्नानपरोपि नित्यं न शुद्ध्यतीत्येव वयं वदाम” इत्यादित्यपुराणवचनात्, “मत्स्यकच्छपमण्डूकास्तोये मग्ना दिवानिशं. वसन्तोपि च ते स्नानात्फलं नार्हन्ति कर्हिचित्” “श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते नृभिः.

### टिप्पणम्

द्रव्याणामसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति. तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नप्रवाहात्मकाध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमिति भावः. अत एवोक्तमस्मत्प्रभुभिर्निबन्धे’ द्वितीयस्य प्रवाहरूपतया तीर्थत्वमिति. यादवकोशेपि : “तीर्थं मन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसि पावन” इति. “उक्तं च दशमस्कन्धीयसुबोधिण्यां देवतारूपत्वं “कालिन्दीति समाख्यते”त्यस्य व्याख्याने “आध्यात्मिकं देवतारूपमिति” ति. “प्रायश्चित्तानि चीर्णानी” तिवचनत्रयाणि

१ क्वचित्पुल्लिङ्गपाठः

## प्रकाश

शुचि शुद्धेन भावेन तदानकृत्याय कल्पते” “विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत्. तद्धरकृत्यसुरास्तस्य सुमूढस्याकृतात्मन” इति योगियाज्ञवल्क्यवचोभिः, “अश्रद्धाधानः पापात्मा नास्तिकोच्छिन्नसंशयः. हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिन” इति वायुपुराणवचनाच्च, “प्रायश्चित्तानि चीर्णानी” त्यादिभिश्च तेषां भगवद्बहिर्मुख्यनास्तिक्यादिदोषानिवारकत्वात्. ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथमेतत्, न ह्यग्निः कदाचिन्न दहतीत्याडक्याधिदैविकदेवतारूपतिरोधानाद्वस्तुन एवाभावादित्याहुः तिरोहिताधिदैवेष्ट्विति. दुष्टान्प्रत्याधिदैवतिरोधानात्सतः प्रत्येव प्राकट्यात्, अत एव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे ‘तीर्थादावपी’ति. अत एव सतां “तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानी”त्यनेन तीर्थीकरणमुच्यते. आधिदैविकाभावे जले दृश्यमानदोषाभावात्किं तीर्थीकरणं स्यात्. शेषं प्राग्वत् ॥३॥

## टिप्पणम्

“प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्. न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिधापगाः” “तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत्. कृष्णसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः” “भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो. तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृते”ति ॥३॥

## प्रकाश

ननु कर्तृसमीचीनत्वे सर्वफलसिद्धेः किमाश्रयेऽन्यव्यवच्छेदेनेत्याशङ्क्य कर्तृणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते:

अहमारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥४॥

अहमारविमूढेष्ट्विति. सत्सु पण्डितेषु अहमारेण वयं शास्त्रज्ञा इतिगर्वेणान्यं पृच्छक्यपि नेति मायावादाद्यभिनिवेशाद्विशेषेण मूढेषु सत्सु. ज्ञानवत्कृतिरपि तेषां दुष्टेत्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्ट्विति. लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकमपि कर्म लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति. पापान् पुंसः, पापं वानुवर्तन्तेऽतः सङ्गान्दोषाभ्यां दुष्टत्वान्न तेषां स्वतः फलसिद्धिराश्रये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणात्फलसिद्धिः, भगवान् भगवदीयो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदात्पर्यज्ञानात्. शेषं सुगमम् ॥४॥

पूर्ववदाशङ्क्य मन्त्राणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते:

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥५॥

१ कर्तृसमीचीनत्वेनेति ख.ग.

अपरिज्ञाननष्टेष्ट्विति. मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टप्रायेषु सत्सु. वैदिकानां गुरुकुलवासब्रह्मचर्यशूद्रासन्निध्यायराहित्यपूर्वकं पठितानां साधकत्वेनाव्रतयोगिनामसाधकत्वात्. आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरो भावादसाधकत्वात्. भगवदाश्रये तु “यस्य स्मृत्ये”त्यादिवाक्यैः “सर्व सम्पूर्णां याती”ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥५॥

ननु मीमांसादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्धारार्त्कर्मभिरेव फलसिद्धेः किमाश्रयेनेत्याशङ्क्य कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते:

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।

पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥६॥

नानावादविनष्टेष्ट्विति. कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु प्रपञ्चः सर्वोपि मिथ्येति वेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्स्वाज्ञानकल्पितत्वेनवेदानां तद्बोधितानां च व्यवहारमात्रेण प्रामाण्यान्न किञ्चित्कर्तव्यं प्राप्तव्यं वास्तीति केषाञ्चिद्वादः, “परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र” इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात् एवोत्तरोत्तरप्रवृत्तेः कर्कैव कर्तव्यं तेनैव फलं न कोप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रमप्येवेति न देवताप्रीतिव्यापारः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, शास्त्रेण षोडशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवणमनननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्यन्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, प्रकृतितद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केषाञ्चिन्मतम्, एवंविधैर्नानावादैर्विशेषेण नष्टेषु सत्सु. विपरीतार्थनिश्चयेन फलं, न भगवानिति केषाञ्चिन्मतम्, एवंविधैर्नानावादैर्विशेषेण नष्टेषु सत्सु. विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वाद्विनाशः. वस्तुतः “पुरुष एवेदं सर्वं” “ऐतदात्म्यमिदं सर्वं” “सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” “एष उ एव तं साधु कर्म कारयति” “अहं सर्वस्य प्रभवः” “को नु राजन्निन्द्रियवान्” “देवोसुरो मनुष्यो वा” “फलमत उपपत्तेः” “त एवं तृप्तास्तर्पयक्येनमि”ति “देवा वै सत्रमासत” “विशते तदनन्तरम्” “मामेवैष्यसि” “आनन्दं ब्रह्मणो रूपं” मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्सत्यत्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदातृत्वात्तृप्तिप्रसन्नकरणाद्यनुपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्सायुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत एव फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात्. स्वमताग्रहेणैव निषिद्धदशम्या दिविद्वैकादश्यादिव्रतकरणाच्च.



## टिप्पणम्

प्रलपितकल्पत्वादिति. यत् “शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये ‘देवता वा प्रयोजयेत् अतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वादि’”त्यधिकरणे “यद्यपि विग्रहवती प्रतिगृह्य भुक्त्वा व्रजति प्रसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या स्यात्, ततश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्यात्, सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योऽभ्युपगन्तुम्, न चाभुञ्जाना प्रसीदतीति युक्तम्, अत एवाप्रतिपन्नापूर्वत्यागे देवताप्रसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः सम्भवतीत्युक्त”मिति पार्थसारथिमिश्राः तत्प्रौढिवादमात्रमेव. तथाहि: “यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्ततश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्यादिति”ति, तदपेशलं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषयत्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्य “तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती”त्यादिश्रुत्युक्तत्वाच्च. मुख्यार्थाबाधेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम्. अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं न तु विध्येकवाक्यतया. एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यच्छाबरभाष्ये सिद्धान्तितं तत्स्वमताग्रहमात्रमेव. प्रकृतमनुसरामः. यदपि “सत्यपि विग्रहे प्रत्तस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योऽभ्युपगन्तुमिति”ति, तदप्यविचाररमणीयम्. विश्वादीनामपि प्रत्यक्षभोगाभावत्वेन “सर्वमनुष्या विष्णुनाऽशितमश्नन्ती”तिश्रुतौ “पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति. तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन” इति स्मृतौ “विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम्. पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानक्याय कल्पते” “पितृशेषं तु यो दद्यात् हृये परमात्मने. रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिन” इति स्कान्दे “यः श्राद्धकाले हरिमुक्तशेषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम्. तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रानाकल्पकोटिं पितरस्तु तृप्ता” इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः. यत्तु निर्णयसिन्धुः “एतत्सर्वं निबन्धविरोधान्निर्मूल”मिति, तन्न, श्रीधरस्वामिनृसिंहपरिचर्यादिमूलं वदतः स्वस्यैव वदद्वाधातात्. एतेन “न चाभुञ्जाने”त्यारभ्य “प्रसादः सम्भवतीत्युक्त”मित्यन्तं यदुक्तं तदेतेनैव निरस्तम्. वस्तु - तस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुपपत्तिः. एतेन तदुक्तं कर्ममार्गस्य प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निर्गवः. यत्तु मुक्तावल्यामात्मनिरूपणे ‘सुतरामीश्वरभेद’ इत्यारभ्य “परमं साम्यमुपैतीति श्रूयते” इत्यन्तं पञ्चाननभट्टाचार्या आहुस्तत्प्रामादिकमेव. तथाहि यदुक्तं “सुतरामीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षानुपपत्ते”रिति, तत्तुच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात्. यदपि ‘योपीश्वराभेद’ इत्यारभ्य ‘समर्पिता’ इत्यन्तं वदन्ति तदपि तथा. तथाहि अभेदबोधिका किल “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती”ति श्रुतिः. नहि तदीयत्वप्रतिपादनद्वारा स्तुतिस्तस्याः शक्योर्थोपि त्वौपचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं सम्भवति मुख्यार्थाबाधात्. अत एव “वांशो नानाव्यपदेशा”दित्यधिकरणे “अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेशकालाभेदेन निमित्तोपचारादि” त्युक्त्वा “न च यत्परास्तदौपचारिकं युक्त”मित्युक्तं वाचस्पतिमिश्रैः. न च “सर्व एवात्मानः समर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव भवनमिति तदर्थत्वं. यदपि “मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो

जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशायोगात्” तदप्यसत्, भेदस्य भ्रममात्रविषयत्वेन वस्तुन एवाभावात्. यदपि “भेदनाशेपि व्यक्तिद्वयं स्थास्यत्येवे”ति तदपि न “एष सम्प्रसादः अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इत्यादिश्रुतिविरोधात्. एतेन “न च द्वित्वमपी”त्यारभ्य “सर्वजनसिद्धत्वा”दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेनैव परास्तम्. यदपि “योपि तदानीमभेदप्रतिपादक आगमः सोपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति सम्प्रदाधिक्ये पुरोहितोयं राजा संवृत इतिवदि”ति, तदपि न लब्धवर्णप्रतीक्ष्यं दत्तोत्तरत्वात्. “निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति”ति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा तस्मात्तार्किकमतस्यापि प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निष्कर्षः. वचनसङ्ग्रहस्तु: “अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते. इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः.” “को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं. न भजेत्सर्वतोमृत्युरूपास्यममरोत्तमैः. देवोसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा. भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्” “भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः. ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्” “मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु. मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे” इति.

आचार्यचरणद्वन्द्वनन्दनान्दितात्मना ।

शिष्येण बालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

## प्रकाश

कर्मत्वेपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाद्यङ्गत्वबोधनाय. ननु तेपि स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्वनिःफलत्वाल्पफलत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शमरजैमिनीगौतमादिप्रवर्तितत्वाच्चेत्यत आहुः पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति. पाषण्डनिमित्तमेव मुख्यः प्रयत्नो येषु “त्वं च रुद्रे”तिसाङ्गेन ‘त्वामाराध्ये’तिश्लोकद्वयेन च भगवता महादेवं प्रति तथैवाज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं कर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन मतप्रवर्तनात्, “यद्यदाचरति श्रेष्ठ” इतिन्यायात्. आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात्. नहि देवादिप्रवर्तितशास्त्रत्वमात्रेण सन्मतत्वं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात्. अन्यथा बृहस्पतिप्रवर्तितबौद्धशास्त्रस्यापि सन्मतत्वप्रसङ्ग इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या. शेषं प्राग्वत् ॥६॥

## टिप्पणम्

‘त्वं चे’त्यारभ्य “भक्त्या त्वनन्यये”त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः

“त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय. अतथ्याति वितथ्याति दर्शयस्व महाभुज. प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु. त्वामाराध्य यथा शम्भो ग्रहीष्यामि वरं सदा. द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुपादिषु. स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु. मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिपोत्तरोत्तरा”. “यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः. स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते” ॥६॥

## प्रकाश

ननु “धर्मेण पापमपनुदति” “धर्मे सर्वं प्रतिष्ठिति”मिति श्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय धर्मः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाशुदोषवतैवान्यथा क्व योगिध्येयो भगवान् क्व दुष्टो जीव इत्याशङ्क्य “यमेवैष वृणुते” “रहुगणैतत्” “भक्त्या त्वनन्यये” त्यादीनाङ्गीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति तन्माहात्म्यमपि तथेति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिप्रेत्य भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते:

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।

ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥७॥

अजामिलादीति. अनुभवविषयोभूतोऽजामिलदीनां ये दोषास्तेषां नाशकः. ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिवर्तकत्वमिष्टप्रापकत्वं च धर्मकार्यमुक्तमतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां न तु तं विहाय प्रायश्चित्तादीति सूचितम्. यद्वा, परम्परासम्बन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामसाम्येनाप्यजामिलोद्धारात् अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण. ज्ञापितमखिलं लीलादिरूपं तद्येन. शेषं प्राग्वत् ॥७॥

## टिप्पणम्

“रहुगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणादूहाद्वा. न वन्दनानैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम्” “भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन. ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे”ति. अनुभवविषयोभूत इति. अजामिलादीनामिति शेषः. पक्षान्तरे त्वजामिलेतरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः. अजामिलस्य तु परम्परासम्बन्धेन स्वनाम्नैवोद्धारात्. दोषोपस्थितावित्यारभ्य सूचितमित्यन्ते ननु “श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते. आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोपि न मे प्रियः” इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चित्तादेः प्राप्तत्वादित्थं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवदिच्छां ज्ञात्वा प्रायश्चित्तादिकरणम्. तदुक्तं सर्वनिर्णये “प्रायश्चित्तं पातकादीनामिति. अल्पदोषोपस्थितौ तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चित्तादि. एतदुक्तं सर्वनिर्णय “अनेनाल्पबर्हिमुखतायामपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित” इति सर्वं समञ्जसम् ॥७॥

## प्रकाश

ननु “तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” “यं - यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भगवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छती”त्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेऽपि ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिनाऽप्यसायुज्यसिद्धे “यं त्वक्षर”मित्यादिना ज्ञानेनाप्यक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय इति किमिति तस्यैव

प्रार्थनमित्याशङ्क्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वस्वरूपनिरूपणपूर्वकमर्थरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते:

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।

पूर्णाण्डो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥८॥

प्राकृता इति. यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाहमारप्रभवत्वात्. बृहदक्षरं गणितानन्दकं “सैषानन्दस्य मीमांसा भवती” त्यारभ्य “ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द” इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः सर्वदुःखहर्तापूर्णानन्दश्च.

## टिप्पणम्

ये त्वक्षरमित्यादिनेति. “ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते. सर्वत्रगमचिकत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्” “सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः. ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः” “क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्. अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते” इत्येतेन तथेत्यर्थः. सैषानन्दस्येति. “सैषानन्दस्य मीमांसा भवति. युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः. आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः. तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः. ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य. ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य. ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः स एक आजानजानां देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य. ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य. ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य. ते ये शतन्द्रिस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य. ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य. ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये”त्यनेन प्रपाठकेन

## प्रकाश

पूर्णश्चासावानन्दश्च, पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वा, तस्मात्कृष्ण एवं गतिर्ममास्त्वित्यर्थः. देवादिसायुज्येति तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः सगुणत्वेन “आब्रह्मभुवनान् लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने”तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसम्भवेनाल्पानन्दत्वेन स्वर्गवदमुक्तित्वात्. ज्ञानमार्गेऽक्षरमुक्तेर्निर्गुणत्वेऽप्यक्षरस्य गणितानन्दत्वेनाल्पत्वात् क्षुधितस्यात्यल्पभोजनमभोजनमेवेतिवदप्रयोजकत्वात्. अज्ञातार्थह्रस्वार्थं ‘क’प्रत्ययेनाव्यक्तव्यं पुरुषोत्तमापेक्षयाल्पत्वं च सूचितम्. पूर्णानन्दत्वेन निर्गुणमुक्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भावनीय इति सिद्धम्. तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः “निर्गुणा मुक्तिरस्माद्भिः सगुणा सान्यसेवये”ति. ननु “ताविमौ



वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ. भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरुद्वहौ” “कलाभ्यां नितरां हरेः” इत्यादिनां शत्वकथनाद्देहस्य च त्रिदिवेशादावपि पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमेन जन्मश्रवणात् सुखस्यात्मगुणत्वेन भेदाच्च कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्दरूपत्वमानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, मैवम्, ‘ताविमौ’ वित्यादीनामर्थानवगमात्. तथाहि भगवान् भक्तानामार्तिनाशार्थं सुखदानार्थं च प्रकटः भुवो भारव्ययायेहानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेरंशौ चागतौ कृष्णयोर्यदुकुरुद्वहयोः प्रविष्यत्वाद्यदुकुरुद्वहौ कृष्णौ च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकुरुद्वहत्वाभावात्. तत्तत्कार्यकरणार्थं व्यूहेषु भगवतस्तत्तदंशापेक्षणादनयोरपि समर्पणांशत्वेन भूमाहरणार्थमपेक्षणात्. अंशयोरेवावतारत्वे पूर्णत्वाभावे “कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” “वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः”. “विदितोसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः” इत्यादिकं विरुध्येतात्र चकारश्च व्यर्थः

### टिप्पणम्

ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थः. पूर्ण आनन्दो येनेति. मर्यादापुष्टिस्थस्येति. शेषः. येनेति करणे तृतीया. ननु करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात्कथमस्य फलोपधानासाधारणकारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारयित्वैव फलं प्रयच्छति तत्र भागवतः करणत्वं, प्रयोज्यप्रवृत्त्युपहितप्रयोक्तृधर्मस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्यत्वेन व्यापारत्वादिति. पूर्ण आनन्दो यस्मादिति. पुष्टिस्थस्येत्यर्थः. हेतोर्निर्व्यापारसाधारणत्वात्. ननुभयोरपि मुख्यफलप्राप्तिवत्त्वेन को वा विशेषः पुष्टिस्थस्येति चेत्, साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषादित्यलं बहुना. ‘तविभावि’त्यारभ्य “प्रकृतेः परः” इत्यन्तानि वचनानि: “ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ. भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरुद्वहौ” “बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः” “अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” “वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः. जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः” “विदितोसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः. केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृग्”ति. चकारश्च व्यर्थः स्यादिति. “भारव्ययाय च भुवः” इत्यत्र

### प्रकाश

स्यात्. तथाचोक्तं श्रीभागवत‘तत्त्वार्थदीपे’ “सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः. तपोऽतिरिक्तकार्यं तु पूर्णं कृष्णे न चान्यथे”ति. ‘सर्वे’ति. व्याख्या तु “सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः. पुष्टिकार्यकर्तृत्वादिरिक्तोवतारः. तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति ‘स्वायेशे’ति. नरस्तु तादृशमंशं विभर्ति न त्ववतार इत्यर्थः. “ताविमौ वै भगवत” इति मूलवाक्यं “कृष्णस्तु स्वयं भगवान्”तेन विरुध्यते इति समाधत्ते ‘तपोतिरिक्ते’ति. मार्गद्वयस्थापनार्थमवतीर्णोपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति पूर्णं कृष्ण एव प्रविष्टावंशाविति मूलार्थ” इति. ‘बभावि’त्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्वभौ हरेः सम्बन्धिनी भूः पदैरनुभावैर्लीलाभिश्च नितरां बभावित्यर्थ इति. अन्यथोक्तवचनविरोधात्. देहस्य

पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविषयत्वाद्राकृते यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्ध्येत्. ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षबाधाच्च किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोद्गीकार्य इति चेत्, न कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिबलेन नित्यज्ञानवत्तथाविधदेहस्वीकारात्. नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकट्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात्. ‘आनन्दाद्ध्येव’ “नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” “स यथा सैन्धवधनः” “आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्”

### टिप्पणम्

भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण गृह्यते. तच्च पुष्टिपुरुषोत्तमकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां चकारो व्यर्थः स्यादित्यर्थः. व्याप्तिबलेनेति. अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिबलेनेत्यर्थः तथाहि यत्र – यत्र कर्तृत्वं तत्र – तत्र देहवत्त्वं यथा कुलालादावित्यन्वयव्याप्तिः. यत्र – यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वात्, न ह्यशरीरी कुलालः शक्नोति कार्यं कर्तुम्. वस्तु – वस्तु “आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः” “सर्वतः पाणिपादान्त”मित्यादिविरोधः. “अशरीरं शरीरेष्वि”त्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधपराः. न च त्रीहियववत् विकल्पसम्भवः प्रमेयापहारनिबन्धनाभावात्. ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये “नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति” इत्युपादाय “गुणेभ्यो नान्यं कर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति” श्रीधरस्वामिव्याख्यानाद्देतुनिरूपितव्याप्तावप्यतिव्याप्तिरिति चेत्, अत्र वदामः गुणानामपि देहवत्त्वेनैव तथाकथनं न तु केवलतया. अत एवाग्रे “गुणानतीत्ये” त्यस्य व्याख्याने “देहाद्याकारः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवास्तानेतांस्त्रीनपि गुणानतीत्यातिक्रम्ये”त्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति विद्वांस एव विदाड्कुर्वन्तु. ‘आनन्दमात्रे’त्यारभ्य ‘मुदितवक्त्र’ इत्यन्तानि वचनानि. “निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो

### प्रकाश

“आनन्दमयोभ्यासात्” “आह च तन्मात्रम्” “केवलानुभवानन्दस्वरूपः” “आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः” “बहूनि सन्ति नामानि” “त्रय्या चोपनिषद्भिश्च” “न चान्तर्न बहिर्यस्ये” त्यातिश्रुतिन्यायपुराणवाक्यसहस्रैः प्रमाणप्रकरणीयलीलाभिश्च पूर्ण एव देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणात्मरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्बाधमबोधि. “नित्यं विज्ञान”मिति “पूर्णमेवावशिष्यते” “भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञ” इत्यादिना नित्यत्वं, “एष ह्येवानन्दयाती”तिश्रुतेरानन्दजनकत्वम्. “कृष्णः प्रीतमनाः” “वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीतिः” “जातहर्षः” “मुदितवक्त्र उपयाती”त्यादिनानन्दवत्त्वं चेति नानुपपन्नं किञ्चित्. तथाप्यानन्दत्वदेहत्वयोर्विरोध इति चेत्, न स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकत्रोभयोः सिद्ध्यसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात्. तथाप्यानन्दस्य धर्मिरूपत्वे कथं धर्मरूपत्वमिति चेत् “स यथा सैन्धवधनः” “यः सर्वज्ञः” इति श्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्वज्ञानाधारत्ववदानन्दरूपत्वतदाधारत्व

योरविरोधात्. श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपश्चितमिति

### टिप्पणम्

निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः. आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा” “बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते. गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः” “त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगैश्च सात्वतैः. उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्” “न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्. पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः” “नष्टे लोके द्विपार्धावसाने महाभूतेष्वादि भूतं गतेषु. व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः” “एवं वृन्दावनं श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः पशुन्. रेमे सञ्चारयन्न्द्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः” “वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च. वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप” “सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभूतो ब्रजदेव्यः. हर्षयन् यर्हि वेणुर्वेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्” “यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते. मुदितवक्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् ब्रजगवां दिनतापमि”ति ॥८॥

### प्रकाश

ननु विवेकधैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि वशे भवतीति किमिति दैत्येनाश्रयः प्रार्थ्यते इत्याशङ्क्य सर्वमनोरथपूरकत्वात्सर्वफलार्थं काम्यत्वात्कामरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते विवेकेति.

**विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।**

**पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥९॥**

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयमुक्त्वा जीवस्वरूपविचारेणाधुनोच्यते. भगवान् स्वेच्छया सर्वं करिष्यति न प्रार्थनीय इतिनिश्चयो विवेकः. भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम्. भक्तिः साधनरूपापि. आदिपदात्पुण्यम्. विशेषत इति. तत्साधनैरपि रहितस्य. यद्वा, यत्किञ्चित्सत्त्वेपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः. किञ्च, दीनस्य दरिद्रस्यातः सर्वसाधनरहितस्य. पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु प्रामादिकपापस्य. कृष्ण एवेति पूर्ववत्. अन्यत्र यत्किञ्चित्द्वैगुण्येपि वैफल्याद्देवताकोपादनिष्ठजननादल्पदत्त्वाच्चेदृशस्य विवेकादिकं दत्त्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम्. नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारयितृवाचकत्वादत्राचार्यचरणानां तथात्वाद्विशेषणान्यसङ्गतानीति चेत्, न अस्यान्यार्थत्वेनान्याधिकारेणकथनाद्भगवता वेदेषु “प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये” “भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम” “स्वस्ति मेस्तु वनस्पते” इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथन इवादोषत्वादिति सर्वमनवद्यम् ॥९॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणागतावपि कथं समीहितसिद्धिः, भगवांस्तु तत्तत्कृतिसापेक्षस्तस्मै तस्मै फलं ददाति प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो

देवान्तरानादरेण तत्कृता अपि विघ्नाः स्युः “श्रेयांसि बहुविघ्नानी”तिवाक्यादित्याशङ्क्य मोक्षप्राप्यत्वान्मोक्षरूपत्वं विज्ञापने च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति.

**सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।**

**शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥१०॥**

### टिप्पणम्

मोक्षप्राप्यत्वादिति. स्वरूपलाभप्राप्यत्वादित्यर्थः. तथाच श्रुतिः “ब्रह्मविदानोति परमि”ति. अस्या अर्थः परं पुरुषोत्तमं प्राप्नोतीति. मोक्षरूपत्वमिति. भक्तिमार्गस्थाय भगवद्भजनं कुर्वते स्वीयाय सर्वफलदातृत्वं भगवत एव तथाचाक्षरफलदातृत्वमपि स्वस्यैवैति तद्रूपत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः. तथाचोक्तं निबन्धे “यथा सारथी रथी तदन्तःस्थितश्च तथान्तर्याम्यक्षरं कृष्णः. एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति परब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदा इति”.

१ नेति क्वचिन्नास्ति. २ तत्तत्कृता इत्यपि पाठः.

### प्रकाश

सर्व पूर्ण सामर्थ्य सर्वेषां सर्वेषु वा, तत्सहित इतीच्छया स्वतोपि सर्वं करोति. यदि मर्यादा रक्षेतदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यधर्मादीनां सिद्धत्वात्तत्तद्दत्त्वापि तत्तत्फलं दद्यात्. कदाचित्पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात्. “यद्यद्विभूतिमत्” “मत्तः सर्वं प्रवर्तत” इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां सुदर्शनादीनां तैः सहित इति वा, तैरपि भक्तानिष्टनिवारणात्, “अव्याहतानि कृष्णस्ये”तिवाक्यात्. ननु सामर्थ्ये सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रक्षेत्, मर्यादैव वा यदि फलं दद्यात्तदा किमाश्रयेणेत्यत आहुः सर्वत्रैव देशेषु वर्णेषु आश्रमेषु कर्मादिषु वाखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्यादौ क्विप् ‘सकृदेव’ “ये दारागारपुत्राप्ते”त्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजतः. मर्यादयापि फलदानेन्यनैरपेक्ष्येण भजतो भगवान्मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भजतो मर्यादासापेक्षो “ये यथा मां प्रपद्यन्त” इति तन्मर्यादाया एव तादृशीत्वान्न क्षतिः. अत एव “ब्रजस्योवाह वै हर्षम्” “चिक्रीडे जनयन्मुदम्” “मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः” “मुकुन्दो मुक्तिं ददाती”त्यादि “तथा न ते माधव” “मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्” “वसति मनसि यस्ये”त्यादिवाक्यैः कालयमादयोपि चेद्भगवदीयान्निवर्तन्ते कुतस्तरां पुनरन्ये विघ्नकर्तार इति न किञ्चिद्दूषणम्. पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्यगमनायासेनोद्धरति, सकृदागतन्तु यथाकथञ्चित्. ईदृशं श्रीकृष्णमहमाश्रयं विज्ञापयामि. ‘कृष्णे’तिसम्बोधनपाठे शरणस्थसमुद्धारं विज्ञापयामीत्यन्वयः. अनेनेश्वरे दीनभावः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्यैवेश्वरतोपहेतुत्वात् ॥१०॥

## टिप्पणम्

‘यद्यदा’रभ्य अव्याहतानी’त्यन्तानि वचनानि “यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा. तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशसम्भवम्” “अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते. इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः” “अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तम्. रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरूपासित” इति. ताच्छील्यदादौ क्विबिति. “आकवेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि”तिस्मरणात्. ‘सकृदेव’ त्यारभ्य “तत्तथा साधयिष्यामी”त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः “सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते. अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम” “ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्. हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे” “ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्. मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः” “दर्शयंस्तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम्. ब्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् वालचेष्टितैः” “ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्ब्रजबालकैः. सहारामो ब्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम्” “तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्बुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः. स्वैरुत्तरीयैः कुचकुमुमामितैरचीकल्पन्नासनमात्मबन्धवे” “राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां देवप्रियः कुलपतिः क्वच किमरो वः. अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्” “तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः. त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो” “मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वान् लोकान् निर्भयान्नाध्यगच्छत्. त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्यः शेते मृत्युरस्मादपैति” “वसति मनसि यस्य सोव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपातः. गतिरथ मम वा तवास्ति चक्रप्रतिहतवीर्यबलस्य सोन्यलोकः” ॥१०॥

## प्रकाश

“दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादश” इतिश्रुतेः प्राणानामिव सर्वसाधकत्वं ज्ञापयितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्मवदक्षयत्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपेणैतत्स्तोत्रपाठफलमाहुः

**कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।**

**तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥११॥**

कृष्ण आ समन्तान् श्रीयते सेव्यतेनेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति वेति कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं यथार्थनिरूपकत्वान्नान्यत्. कृष्णसन्निधौ तन्निमित्तं वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत्. अत्र “हेतुहेतुमतोर्लिङ्” इदं मिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वरूपाज्ञानात्. नन्वल्पायासादेतस्तोत्रपाठमात्रेण कथमेतत्फलं स्यादित्याशङ्क्याहुः श्रीवल्लभ इति. इदमब्रवीत् अवदत्. स्वस्य भगवत्स्वरूपाभिज्ञत्वाद्भगवता सर्वोद्धारार्थं प्रकटितत्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नात्राप्रामाण्यशमा, नहि भगवान् सत्यवाक् स्ववाचमन्यथाकरोति. यत्र प्रसङ्गान्नादकृतं “तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महान्मने”ति सद्नुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव

मन्यमानः पुरुषोत्तमः स्वयं तत्र गत्वा नलकूबरमणीग्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकटितस्य स्वस्वरूपस्य कृतौ वचने वा किं - किं न करिष्यतीति

## टिप्पणम्

**देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।**

**तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मनेति ॥११॥**

१ श्रुतिपदं क्वचिन्नास्ति. २ स्ववच इति पाठः क्वचित्.

## प्रकाश

तत्कृपायां सर्वं भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥११॥

श्रीमद्विठ्ठलनाथपादकमले सम्बन्ध भक्त्या मुदा

कृष्णैकाग्रधियोथ तातचरणान् तादृक्पितृव्यानपि ।

श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिधः

श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भूयान्मुदे सद्भियाम् ॥१॥

**इति श्रीविठ्ठलनाथचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचितः**

**कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः ।**

## टिप्पणम्

दूरीकरोति विकटं किल समटानां सङ्घं विशमटतरं वरसेवकानाम् ।

यत्पद्मरागमणिवर्यविराजेमानं तद्वेष्टेशमुकुटं प्रकटं रटामः ॥१॥

निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिमुखाब्जसरोरुहभास्करम् ।

अतुलमङ्गलनामविराजितं जनमनोहररूपमहं भजे ॥२॥

श्रीमत्कल्याणां नमस्कृत्य पदद्वयम् ।

कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्प्रणीतस्य टिप्पणम् ॥३॥

गुरुश्रीबालकृष्णानामात्मजेन सतां मतम् ।

कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम् ॥४॥

**इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपायमानान्तःकरणतिथरो**

**पनामकबालकृष्ण भट्टात्मजगोविन्दराजकृतं तत्त्वनिरूपणाभिधं**

**कृष्णाश्रयप्रकाशटिप्पणं समाप्तिमगमत् ।**

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविवृतियुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्ये भ्रंशिता मुग्धचित्ता

स्तदनुसृतकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।

अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्

तमहमतिदयालुं वल्लभाख्यं नतोस्मि ॥१॥

विरञ्चिकृष्णनारदैर्निरूपितैर्भृशं सदा

चिरन्तनीयसाधनैर्विसम्मतं कलिं विभुः ।

विलोक्य सर्वतोधिकं निजागमं ततान यः

सदा सुसम्मतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥२॥

ननु साक्षात्परम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां बहूनां विद्यमानत्वात्तानि विहाय किमित्पाश्रय एव बोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवविधलीलप्रवेशज्ञानानन्तरं ह्याश्रयस्तज्ज्ञानं वा स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्प्रतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह सर्वमार्गेष्विति.

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥१॥

तथापि निरोधस्य सर्वापेक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके तथात्वात्किमिति तौ विहायाश्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते “आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते. स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्दयते” “या – या साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये. तथा विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः” “सर्वमाश्रयतो भवे” दित्यादिवाक्यैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वात्सर्वसाधनफलरूपाभ्यां स एव परिणत इति तमेवाह “कृष्ण एव गतिर्ममेति ।”

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपलक्षणं किन्तु स एव भक्तिमार्गनिर्वाहप्रतिबन्धनिवर्तकतया परमभक्तिप्रतिपादकसाधनीभूततन

वित्तजादिप्रतिपादकशरीरतन्निर्वाहकक्रियारूपो भवत्वित्यध्याहारः. कथञ्चित्पूर्वमाश्रयोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चाज्जीवैस्तदाश्रयः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वतः सर्वांशेन कार्यसिद्ध्यभावं निश्चित्य स्वस्मिंश्च तथात्वन्विये सत्यस्माकं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः सर्वथा भाव्यमेवेति निश्चित्याश्रयः सर्वथा कार्यः. एवम्प्रपन्नानामाश्रयः सर्वथा भवत्येव, अन्यथा ‘अनन्या’ इति “न मे भक्तः प्रणश्यति” इति भगवद्ब्रतं भज्येत. एवं सति सर्वफलरूपस्त्वयाऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोधिकस्य फलस्याभावात्, प्रत्युत ‘वृश्चिकभिये’तिन्यायेन स्वरूपहानिप्रसङ्गः स्यादत्र ब्रूमः “कृष्ण एव गतिर्ममेति ।” एवंच परमभक्तिस्तु कृष्णैकफलिका तदनुग्रहैकलभ्या च, तथासति तत्सिद्धिप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्सिद्धौ तत्साधनादिनिर्वाहकसाधनतामापन्नो न हीनतामापद्यते. यथा: “योगमायामुपाश्रित” इत्यत्र रसमार्गोऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषाधायकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात्. एवं भक्तिमार्गीयसर्वोपशसाधने भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः. यथा “भर्ता सन् भ्रियमाणो विभर्ती” त्यत्र भगवत्तत्सम्बन्धिनां च परस्परमाधाराधेयभावे पोष्यपोषकभावे च नोभयोर्मध्ये कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत उत्कर्षाधायकं, एवं तन्मार्गपक्षपाताद्भक्तिमार्गे सर्वांशेन फलत्वमापन्नस्य स्वस्य साधनतास्वीकारो न हीनत्वसम्पादक इत्येवमभिसन्धायाचार्यैरुक्तमितिभावः. धर्मादीनां च स्वसाधनसहितानामेव फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामिदानीमतथात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्वं कालस्यातथात्वमाह: “सर्वमार्गेषु नष्टेष्विति”. कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सत्सु दैवैः कृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः. मार्गोक्त्या तेषां साङ्गानां स्वस्वाधिकारानुसारेण फलप्रापकत्वं निरूप्यते. नाशस्तु तेषां सर्वथा फलसाधकत्वरूपः. कलौ तत्तन्मार्गे किञ्चिदुत्तमानां तद्विध्याचरणेपि तत्फलभावं दृष्ट्वान्येषामनुपलब्धिप्रमाणेन ततो विश्वासापगमाद्वाह्यतोपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्यादितिभावः. ननु सत्ययुगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथात्वे को दोषः कालत्वस्याविशेषादित्यत आह खलधर्मिणीति. खलाः सर्वथा बाह्याभ्यन्तरभेदेन धर्मादिकृत्यनुसन्धानरहिताश्च, अनुसन्धानेपि द्वेषार्थमेव तदनुसन्धानं, न च स्वस्यान्येषां वा चिकीर्षाबुद्धिजनकत्वेन. अत एव “घनन्तं गोमिथुनं पदे”ति तस्यासाधारणो धर्मो निरूपितः. ननु सर्वथा धर्मादित्यक्तारः केचन भविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुक्त्या सर्वे कथं तादृशा भविष्यन्तीत्यत आह पाषण्डप्रचुर इति. येषि लोके सन्मार्गाद्याचरणं कुर्वन्ति महान्तोपि तेपि प्रधानमनुसृत्यैव कुर्वन्ति, अन्यथा तदा लोके पूज्यत्वं न स्यात्. पूर्वमल्पप्राचुर्ये तत्र श्रद्धाभावेप्यन्यानुरोधेनाप्यन्यथाचरणे

स्वबुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्धालवो भूत्वान्येषामपि तथात्वं सम्पादयन्तः पश्चात्त्यक्तह्रियो भूत्वा सुखेन तथाकुर्वन्तीति भावः. एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गात्यागः “योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते. किं तेन न कृतं पापं चौरणात्मापहारिणे”तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति. तेन प्रावाहिकभक्तिमार्गेण नष्ट इति ज्ञापितम्. चकारः समुच्चयार्थः. तथाहिः मार्गाश्च सर्वे नष्टास्तादृग्धर्मा कलिश्चाविर्भूतः, लोके पाषण्डाच प्रचुरः. एवं सर्वथा सर्वनाशोपस्थितौ विविधशमास्पदीभूतान्तःकरणान् स्वानुपदिशन्ति “श्रीकृष्ण एवं गतिर्ममेति”. अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनानां धर्मादिप्रतिकूलसाधनवतां वा सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं ‘तवास्मी’त्युक्तिमात्रेण भक्त्यैकलभ्यः पुष्टिपुरुषोत्तम एवोद्धारं कर्तुं शक्त इत्येवकारेणांशकलावतारव्यवच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमग्रेपि ज्ञेयम्.

एवं कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तथात्वमाह -  
**म्लेच्छाक्रान्तेष्विति.**

**म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।**

**सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥२॥**

यथा कालात्वस्याविशेषपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः. तीर्थमपि जलस्थलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदतथात्वमाह -  
**म्लेच्छाक्रान्तेष्विति** साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ - समन्तात् - क्रान्ताः. तत्तत्पुण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु तद्धर्मापगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिराक्रमणम्. कुत्रचित्पुराणादिभूमौ साक्षात्त्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्तत्सन्निहितेषु. एवं तेषां साक्षात्स्थित्या स्वोत्पन्नविषयाणां तदेकभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्मसाधनत्वं जातम्. सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम्. म्लेच्छा अनाविष्टाः सन्तः सर्वथा धर्मादिविरोधिनः कलहप्रियाश्च “मनसा वचसा कृत्या सद्धर्मपरिपन्थिनः. म्लेच्छदेशेषु सञ्जाता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः”. ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्तद्विपरीतानां बहूनां दृश्यमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्सर्वोपि देशोऽधर्मजनकतां यात एवं तद्विपरीतधर्मवतां तज्जातीयानामपि संसर्गा “त्संयोगपृथक्त्व”न्यायेन देशव्यवच्छेदेन कियद्देशेषु धर्मसाधनताप्यस्त्विति चेत्तत्राहः **पापैकनिलयेष्विति.** सर्व एव देशाः पापैकनिलया जाताः पापानामेको निलयः स्थानं तादृशा जाताः. तेन कुत्रापि धर्मवार्ता न श्रूयते. यद्वा पापास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिलयत्वात्तथा. येपि तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि वैष्णवा

भूत्वा वेदनिन्दां कृतवन्दां कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोपि सत्स्वेव प्रविष्टा ननु तेषु. तेन सतामिव तेषामपि धर्मादिनियन्तुत्वाभावः सूचितः. ननु तदाक्रान्तेष्वपि देशेषु चातुर्वर्ण्यस्यापि विद्यमानत्वादोक्तवृत्तियोगित्वेन त एव सतां धर्मादिप्रवर्तने सहायाः कथं न भवन्तीति चेत्तत्राहः सत्पीडेति. चित्तस्थैरे हि सर्वेषां स्वधर्मानुसन्धानं भवति. सतां चकारात्तदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एव लोका व्यग्राः. सतां प्रसङ्गे पीडासम्भवात्तदभावे धर्मादिसिद्ध्यभावाद्व्यग्रता. तथासति किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहः कृष्ण एवेति. सर्वथा साधनाभावाद्धर्माभावेपि भक्तिवत्कल्पतरुस्वभावत्वेन सर्वधर्ममार्गीयफलतोप्यधिकफलप्रापकत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रय एव सर्वथा कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥२॥

एवं स्थलादिरूपतीर्थानामतथात्वमुक्त्वा जलादिरूपाणामपि तेषामतथात्वमाहः

**गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।**

**तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥३॥**

गङ्गादितीर्थवर्षेष्विति. ननु ‘गङ्गागङ्गेती’त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा बाधन्ते तत्राह दुष्टैरिति. “नहि गङ्गासमं तीर्थम्” “या वै लसदि”त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव वरीयस्त्वस्योक्तत्वादतीर्थानपि तीर्थीकुर्वन्ती गङ्गैव गच्छति. एवंविधान्यतथाजातानि. किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वमाधिदैविकादिभेदेन तत्र तीर्थ रूपं तु दुष्टसम्बन्धादेव नष्टम्, तथाहिः भगवता “त्वं च रुद्रे”त्यादिवाक्यैर्जगन्मोहनार्थं पशुपतेः प्रवर्तितत्वात्तत्र यथा सर्वे जीवन्तो मुमूर्षवश्च मुग्धा भवन्ति तदर्थं सर्वथा चित्तशुद्ध्यभावसाधनीभूततीर्थसम्बन्धाभावार्थं शिवेन स्वगणागङ्गादिषु स्थापितास्ते तु गणशस्तिष्ठन्ति तत्रत्यानां प्राणापगमे यथा तीर्थसम्बन्धो न भवति तथा ते यतन्ते. तत्सम्बन्धात्तीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके “ये तीर्थानि प्रचरन्ती”त्यादिना. अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थमरणफलमत एव तत्र मृताः सन्तो रुद्रपिशाचं ते प्राप्नुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः काश्यादिषु मुमुर्षूणां मनुष्याणां मारभ्य तिरश्चामपि. ननु तत्र मृतानामपि तारकब्रह्मोपदेशं शिवः करोतीति श्रूयते तथा सति कथं जलस्थलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सत्यं तत्तु पूर्वोक्तधर्मवत्कालाभावे न तु तद्वति. यद्वा ‘त्वं चे’तिभगवदुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽकरोत्तदनन्तरं तथाकरणे आज्ञाभङ्ग एव स्यादिति न तथा कृतवान्. तथापि निदर्शनस्येदानीमपि दृश्यमानत्वात्कथं न करोतीति तत्र शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्प्रतमेव सर्वं करोति. किञ्च, तथोपदेशं कुर्वन्नपि पूर्वं वैष्णवत्वेप्यसत्सङ्गेनापराधाद्वा दैत्यावेशे जाते स्वस्थानमाहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वरूपतासम्पादकत्वेन भगवद्धर्माभिज्ञत्वाच्छिव

१ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सूकावन्तो निषङ्गिणः । य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्किरे ।



एव तारकब्रह्मोपदेशं करोतीत्यर्थः. अत एव “प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्. न निष्पुनन्ती”त्यादिना भगवद्बहिर्मुखस्य पवित्री करणसामर्थ्यं तीर्थादिष्वपि नास्तीति जातेपि तत्सम्बन्धे न कृतार्था भवन्तीत्यर्थः. तथा चोक्तं निबन्धे “तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत्. कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः” इत्यादि सर्वमनवद्यम्. ननु गङ्गादेराधिदैविकरूपस्य विद्यमानत्वात् कथं तादृशैरावरणं तीर्थरूपनाशो वा भवेत्तत्राहुः तिरोहितेति. जलस्थलरूपेभ्य आधिदैविकं तिरोहितं तस्माददुष्टसंसर्गं अक्षात्मकमपि तथैव जातम्. एवं सर्वेषां सर्वसाधनापगमे आश्रय एव साधयानिति तमेवाहुः “कृष्ण एवेति ॥३॥

तथाप्यन्तरङ्गभेदेन सर्वधर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कथं धर्मादिनाशः स्यात्तत्राहः

**अहमारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।**

**लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥४॥**

**अहमारविमूढेष्विति.** यदि तेपि तथाभूता भवेयुस्तदा कार्यं सिद्ध्येदेव तेषां स्वरूपमाह परीक्षिति यस्मिन् विद्यमाने तच्छरणागतौ कलेरध्यवसायो जातः स एवाहमार इदानीं सत्सु प्रविष्टः. यथैतत्सम्बन्धात्परमधार्मिकस्यापि विष्णुरातस्य कलेः स्थानदानेन त्रिदोषोत्पत्तौ मौढ्याद्ब्रह्मणातिक्रमे बुद्धिर्जातैवं सतामपि तत्सम्बन्धात्स्वधर्मपरित्यागे बुद्धिर्जातित्यहमारेण सर्व एव मुग्धा जाताः. एतेन कर्तृणामप्यसाधकत्वमुक्तं भवति. यदि कर्तार एवाहमारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्माद्यसाधकत्वं किमाश्चर्यमिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति. अल्पमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदपगमः स्यात्तदभावार्थं विशेषेण मूढत्वम्. तत्र निदर्शनं **पापानुवर्तिष्विति.** पापा निषिद्धकृतिभिस्तत्फलरूपतां प्राप्तास्तददत्तविषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम्. ननु तेपि स्वोपजीव्यान् परमधर्मादिकं बोधयन्त इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह लाभेति. लाभार्थं या पूजा तस्यामेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी तु नापेक्षिता. यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनैतादृशकर्तृणां मन्त्रादीनामसत्त्वाद्द्रव्याणामप्यसाधकत्वमुक्तम्. अत्र कर्तृणां तदनुवर्तिनामेव द्रव्यादीनामसाधकत्वात्पूर्वं कर्तृणामसाधकत्वमुक्त्वा पश्चाद्द्रव्याणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सङ्गच्छते. तेन “स्वयं नष्टः परान्नाशयती”तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता. यदि तेन स्वस्य परस्य वामुष्मिकं सिद्ध्येत्तदा ते सन्त एव भवेयुः. वृत्त्यर्थं तेषां तत्करणात् “भिक्षाशया च गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन. अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जयेत्” इत्यादिवाक्यैस्तेषामतथात्वप्रतिपादनाद्धर्मध्वजिवत्तत्कृतं सर्वमकृतप्रायं भवतीत्येवंरूपसर्वनाश उपस्थिते सर्वेषां सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरूपदिष्ट इति तथाह **कृष्ण एवेति ॥४॥**

ननु गोपालादितान्त्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनव्रतादीनां विद्यमानत्वात्तेषां च सर्वथा

शोधकत्वात्कथं न तैस्तेषां पूर्वस्वरूपं तत्राहः

**अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।**

**तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥५॥**

**अपरिज्ञाननष्टेष्विति.** तेषां परितो ज्ञानमङ्गानुरीकृत्य फलपर्यन्तं स्वरूपनिर्धारः. किञ्च, गोपालादिमन्त्राणामपि वाराङ्गनावशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयत इ“त्यनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे” इतिवचनाद्भगवन्मन्त्राणां विषयादिषूपयोगोऽपरिज्ञानादेव भवति तेनानर्थोपशमस्य भक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाते नष्टत्वम्. गुरुकुलावासब्रह्मचर्यशूद्राश्रवणानध्यायराहित्यपूर्वकपठितानां वेदमन्त्राणां “अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः” इतिन्यायेन सम्यक् तात्पर्याज्ञानेऽध्ययनमात्रेणैव सर्वसाधकत्वात्कथं नष्टत्वं तत्राहः **अव्रतयोगिष्विति.** व्रतेष्वयोगो येषां, व्रतानामयोगो येष्विति वा. “अधुना ह्यधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ” इतिवचनात्कृतानामपि तेषामव्रतयोगित्वम्. ननु किमित्यायासपूर्वकं कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं साध्यते, किञ्च, “दानव्रततपोहोम” “जन्मान्तरसहस्रेष्वि”त्यादिवाक्यैः कर्मव्रतादीनां भक्तावपि साधकत्वं मन्तव्यं, तेन “पक्षालनाद्धि पमस्य दूरादस्पर्शनं वरपि”तिन्यायेन पूर्वमेव तेषामसाधकत्वं न वक्तुं शक्यमिति चेतत्राहः सत्यं, तानि वाक्यानि प्रावाहिकभक्तिपराणि. नो चे“न्न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव. न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणाः” “मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः. स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्” “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन”त्यादिश्रुतितिस्मृतयश्च न सङ्गच्छेयुः. भक्तौ भगवदिच्छैकसाध्यत्वं धर्माद्यसाध्यत्वं श्रीमत्स्वामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितमस्तीति नात्रोच्यते. तेन पुष्टिभक्तौ तु “न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च. न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता” “न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च” “प्रीयतेमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्” “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज” नाहं वेदैर्न तपसे” त्यादिवाक्यसहस्रैर्भगवदङ्गीकृतानामेव तत्प्राप्तिः. तस्माद्भगवदाश्रये कर्मादीन्यप्रयोजकानि. ननु “तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते”त्यादिवचनैर्भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिकव्रतादिकरणमावश्यकं तत्र वेदसाधकत्वं वदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिककर्मादि करणमेकादशीजन्माष्टमीव्रतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न. तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मव्रतादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः. “यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो” “यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्” इति. तेन भगवदीयकृतकर्मणां



“यस्य स्मृत्यै” त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम्. तेन स्वमार्गीयाणां तेषां तेभ्यो भेदः सूचितः. वस्तु - तस्तु यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितानामपि तत्प्राप्तिस्तत्राकामतयापि कृतानां कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं किमाश्चर्यम्. एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये मुख्योधिकार इति ज्ञेयम्. तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह नष्टेष्विति. ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तद्रूपसाधनैकलभ्यप्रसादानां विद्यमानत्वात्कथमपरिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राहः तिरोहितेति. अर्थरूपा देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति भावः ॥५॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेऽप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादीनां विद्यमानत्वात्कथं न कार्यसिद्धिस्तत्राहः

**नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।**

**पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥६॥**

**नानावादविनष्टेष्विति.** जैमिनिकणादगौतमादयो हि ऋषयस्तामसास्तैः श्रुतिस्मृत्यर्थविचारे क्रियामाणे कालसम्बन्धादुद्विक्तस्वभावाः सन्तः कर्मव्रतादिप्रतिपादने निरन्तरसन्तन्यमानपरस्परप्रतिपूलासत्तकैरुज्झितव्यवसाया जाताः. एवं वस्तुनिर्धाराभावे तदन्तेवासिपरम्पराया अपि पूर्वापेक्षयाप्यधिकदोषयुक्तत्वेन विविधकुतर्कोपैतैः परस्परविरुद्धैर्नानावादरूपैस्तद्वाक्यैः सर्वाण्येव कर्मव्रतादीनि विशेषेण नष्टानि. फलस्वरूपाभ्यां वस्तुनिर्धाराभावे तद्रूपेण कृतमकृतप्रायं भवतीति तथा. अत एव भगवतापि तथैवोक्तं “ज्ञात्वा - ज्ञात्वा च कर्माणि जनोयमधितिष्ठति. विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्” इति. तन्मार्गस्यैव तथात्वात्. ननु साङ्गान्निहोत्रव्रतप्रतिपादकानां श्रुति - स्मृतीनां विद्यमानत्वेन तदनुसारेण तत्कर्तारोपि दृश्यन्ते कथं तन्नाश इति चेत्तत्राहः पाषण्डैकेति. परप्रतारणार्थं धर्मवत्कृत्वा प्रदर्शनं पाषण्डः, प्राकृतनित्यवैकृतकाम्यस्वरूपसाधनफलादिपरिज्ञानाभावे चित्तादिशुद्ध्यसाधकत्वात् “अग्निहोत्रं गवालम्भं सकक्यासं पलपैतृकम्. देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जये” इत्यादिवाक्यात्तेषामिदानीं निषिद्धत्वात्कृता अप्याभासत्वमेव प्राप्नुवन्तीति तत्कृतेरपि पाषण्डार्थमेवैको यः प्रकर्षेण यत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात्. एवमखिलकर्मव्रतानां पाषण्डैकप्रयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मक्षत्राणामप्याश्रय एव साधीयानित्याह **कृष्ण इति ॥६॥**

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गप्रवेशयोर्म्यानां ‘गतिर्ममे’त्येवंरूपोक्तिमात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेत्तत्राहः

**अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।**

**ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥७॥**

**अजामिलादिदोषाणां नाशक इति.** ब्रह्मवादे भगवतः सर्वाश्रयत्वेऽपि सर्वार्थे भक्तिमार्गीयाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वादाश्रयभवने महानुत्साहो भवति. यथा स्वनाममाहात्म्यख्यापनार्थं नामोक्तिमात्रेणैवाजामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वधर्मपक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गीयाश्रयमाहात्म्यख्यापनार्थं तादृगुक्तिमात्रेणैव भगवांस्तथाविधो भवतीति भावः. तथापि क्व जीवाः क्षुद्रतमाः क्व वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो भगवानित्याश्रयभवननिश्चयाभावे कथं वा तमुद्दिश्य तथोक्तौ प्रवृत्तिरपि भवत्तत्राहः अनुभवे इति. अत्रास्मच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः. एवमाश्रयभवनोन्मुखो भगवान् मदनुभवे स्थित इति निर्णीतार्थोऽहं वदामीत्यज्ञानान्यथाज्ञानप्रतिकूलतर्कैर्नान्यथा शमनीयमिति भावः. चित्तस्यातथात्वेऽपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यां मदनुभूतो भगवानप्यनुभवारूढो भवतीति मदीयैरेतदेव सर्वथा कार्यमित्यलं विस्तरेण. ननु यथा कलौ श्रुत्यादिभिर्ज्ञातमाहात्म्या अपि धर्मादयो नष्टाः तथा “कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम्. तदद्भ्यं जाह्नवीतोयं तदद्भ्यं ग्राम्यदेवता” इत्यादिना बाह्यतो भगवत्सान्निध्याभावे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं भविष्यतीति कथमज्ञातमाहात्म्यास्तदाश्रयोक्तौ प्रवृत्ता भविष्यन्तीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति. ज्ञापितमखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा श्रुतिपुराणश्रोभागवतादिना साक्षात्परम्परया वा माहात्म्यं यस्य येनेति वा. तथाहि “तस्माद्वा एतस्मादात्मनः” इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वबोधिकया श्रुत्या माहात्म्यख्यापनम्. प्रवृत्तिपराणां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं तत्रैव पर्यवसितमतित्वात्तेषामेवं ज्ञानिनामुपासकानां च. भक्तानां तु साक्षादेव यथा “जृम्भतो ददृशे इदम्” यथाच “गरिमाणं शिशोर्वोहं न सेहे गिरिकूटवत्” एवमूह्यमुरुधा सर्वत्र ॥७॥

ननु “आकाशात्पतितं तोयं यथे”त्यादिनोक्तप्रकारेण देवतान्तरं भजतामपि सर्वमुक्तौ भगवत्सम्बन्धो भविष्यतीति किमित्येवं निर्बन्धेनाश्रय एवोच्यते तत्राहः

**प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।**

**पूर्वानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥८॥**

**प्राकृता इति.** ब्रह्माणमारभ्य सर्व एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपातित्वात्. बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थे ‘कः’ प्रत्ययः. तेन जीवेषु निरानन्दहेतूनामगणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देऽपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः

सिद्ध्येत्. तथापि विराडक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्ध्यभावे कथं मूलाश्रयणेन सर्वथा तद्वत्येवेत्येवं निश्चीयते तत्राहुः पूर्णेति. नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पूर्यते. तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोप्यपूरित एव स्यात्तत्राहः हरिरिति. यद्य “प्रयस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती” त्यादिना देवेष्वपि तद्वत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषामन्यपूरकत्वं तदल्पीयस्त्वात्. निरवधिदारिद्र्यस्य सावधिधनेनापगमस्याशक्यत्वादेवमपूर्णानपि प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति. “तं सत्यमानन्दनिधिं भजेते” तिन्यायेन एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥८॥

ननु भवद्भिरेव भक्त्युत्पत्त्यर्थं तद्दाढ्यार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणा निरूपितत्वात्कथमितरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयश्रयाश्च तदुभयरक्षानन्तरं च भवद्भिरेवोक्तत्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राहः

**विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः**

**पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥९॥**

**विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति.** विवेकः सर्वमप्रार्थनेपि निजेच्छातः करिष्यतीत्येवन्निश्चयरूपः. निवृत्युपायाकरणेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम्. भक्तिः प्रेमलक्षणा तत्साधनरूपा वा. आदिशब्देन मर्यादाभक्तिसाधनानां ग्रहणम्. यत्र भक्तिसाध्यं नान्येन सिद्ध्यत्यन्यसाध्यं तु भक्तेरानुषङ्गिकं फलमेवंरूपभक्तिव्यतिरेकेणापि यत्राश्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिनिरपेक्षः स तथाभवतीति किं वाच्यम्? अत एव तत्राप्यन्ते “कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या” इत्युक्तम्. किञ्च, विवेकादिस्थितौ तदवलम्बेनाश्रयाभावेपि स्थितिर्भवति तथासत्याश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्ध्येत्, धर्मतद्विपरीतादिसाधनाभावे तूमयथाप्यनुद्धार्य एव स्यातेन धर्मपक्षमवलम्ब्य धर्मादिविपरीतसाधनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्ध्यभावनिश्चये दैन्याविर्भाववतामेव शरणगताविवाश्रये मुख्योधिकार इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति. आसक्तिः कायेन मनसा वाचा तदकरणे स्थातुमशक्तिः. अयमेव विशेष आश्रयविधौ. एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्य इत्याह कृष्ण एवेति. नन्वेवं सति तु पापकरणस्यैवाश्रये कारणत्वमायापीति चेत्तत्राह “कृष्ण एव” इति. अत्रैवं प्रतिभाति : एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्दर्माणामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानुत्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्यापीति भावः. तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्नमिति चेत्, न अनवबोधात्. तथाहि “एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं

कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात्” देतस्यायमर्थः : विवेकधैर्यभक्त्यादिसहितास्तु कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम्. ननु धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमर्धाकर्तार एवाधिकारिण इत्यायातमिति चेत्? तत्रोच्यते. धर्मादिमतां विवेकधैर्यभक्तिमतां चेत्तत्त्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वबुद्धेः. यथा प्रभुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य तत्करणे शोकोत्पत्तौ पुनः प्रभुणैव “पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी” त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मे तदसम्भवात्तन्मोचनकथनमनुपपन्नं भवति तथैवेतेषामपि शोकसम्भवः. परं तद्विपरीतवतां तु तेष्वसद्वृद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाङ्गीकारप्राचुर्यात्तद्वलाच्च तत्त्यागः सुलभ इति सुष्टु क्तं “धर्मादिप्रतियोगित्व” मित्यनेनेति सर्वमनवद्यम् ॥९॥

ननु “श्रेयांसि बहुविघ्नानी” तिन्यायेन प्रतिबन्धकानां दृष्टादृष्टमेदाभ्यामुरुधा विद्यमानत्वात्कथमुक्तिमात्रेण चाक्लिष्टकर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राहः

**सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।**

**शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥१०॥**

सर्वसामर्थ्यसहित इति. कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुसामर्थ्यादिरूपैः सहितः. ननु तत्र दृष्टान्तनिदर्शनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रेति. सर्वत्र योग्यायोग्यविचारेणाखिलानामखिलान् वार्थान् करोति करिष्यत्यकार्षीदित्यादिधर्मस्याविनाशित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनध्यवसाय इत्यर्थः. तथापि भगवतः सर्वसमत्वात्सर्वमुक्त्यनवसरेऽप्रार्थितः कथमुद्धारिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति. ये च शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धारणे अप्रार्थितोपि भूक्तप्रयत्नः सर्वदैव वर्तते किं पुनर्मत्प्रार्थितः. यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायामपि ब्रह्मणा भूम्या दुःखनिवेदनरूपप्रार्थनानन्तरमेव समाधौ तद्विरः श्रवणनन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्यास्मानुद्धारिष्यतीत्येवंनिश्चयो जात एवं मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा सर्वं परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः. एतदेवाभिसन्धायाचार्यैरुक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति. यद्वा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्मत्कृतिमपेक्षते.

**नवभिश्च स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेप्सुभिः ।**

**दशमे स्वस्य धर्मस्य साधकं ज्ञापयेदुधः ॥१०॥**

पाठफलमाह :

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।

तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥११॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति. कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम. फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा. उभयोरभावे स्मरणीयस्य वा. धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविषयिण्युत्कटेच्छा च पूर्वाविधिः. अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः. तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम्. यः पठेत् कृष्णसन्निधौ. य एव पठेत्तत्तद्गर्माविष्टान्तः करणः अतथाभूतो वा. ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत्. क इत्याकाङ्क्षायां कृष्ण इति. कृष्णः सदानन्दः. तेन तदाश्रितानां व्रजस्थानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः परमानन्दसम्बन्धश्चोक्तौ भवतः. नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेत् श्रीवल्लभ इति. यथा श्रिया वल्लभो भगवांस्तथायमपीति भगवद्वाक्यमिवास्यापि वाक्यं वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः. किञ्च, भगवद्गुणानां स्वरूपं तद्धर्मनिरता एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपन्नैः कैरपि भाव्यमिति दिक् ॥११॥

व्रजपतिरतिमिथं यः प्रदातुं कृपातः

सकलनिगमसारं तत्त्वतः सञ्जगाद ।

स्वजनपरिवृद्धो ध्रुक् सन्ततेः संशयानाम्

स भवतु मम सर्वं विट्टलेशः सुकेशः ॥१॥

रुचिरचरणयुग्मं हृत्प्रवेशेतिगमम्

निजमनसि विहारं ध्वस्तगाढान्धकारम् ।

व्रजिनवनकुठारं प्राप्तलोकोपहारम्

सकलनिगमसारं भावयेद्विट्टलेशम् ॥२॥

आश्रयस्तोत्रविवृतिं द्वारिकेश्वरशुद्धीः ।

आश्रितानां चकारेमामाश्रयज्ञापनेच्छया ॥३॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानद्वारिकेश्वरेण विरचिता

कृष्णाश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्व्रजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।

ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥१॥

तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्मया ।

विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥२॥

अथ श्रीमदाचार्यचरण भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गानुपदिश्य प्रत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयमुपदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगवच्छरणगमनात्मकं सिद्धं, तथा च तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्वैर्येण सिद्ध्यति, वाचनिकं तु “प्रपन्नं पाहि मां प्रभो” इत्यादिप्रार्थनारूपम्. एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति “सोहं तवाङ्घ्री” त्यक्रूरस्तुतौ “असतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य” इति स्वानुभवेन प्रतिपादितम्. शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं “यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य” मित्यारभ्य “सत्सेवारुचिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगवच्छास्त्रपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापक” मित्यन्तेन. “अनुगुणपक्षस्तु सुगम” इति च. एवं सत्येतादृशी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गानां दुःसाध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धादावुक्तोपि दुर्जेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गं वाचनिकीं तां साम्प्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः सर्वत्यादि.

अत्र टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्ग्रन्थावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु “य आविरासीद्गोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः. निजदास्यं स नो देयादव्यादपि दुराश्रयादि” तिमङ्गलवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु प्रार्थनस्य च कथनेन सूचितेति न विरोधः. एवं कल्याणारायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्ययमेवाशयः. श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यं तैरेवमुक्तं “भक्तानां भगवानेव देशादिषट्साधनरूपश्चतुर्विधपुमर्थरूपश्चेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति”, स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः “दश वै पशुषु प्राणा” इति श्रुतेः प्राणानां दशत्वं, ते यथा साधकास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देपि दशविधाः. अतोऽर्थमनुकूलयन् शब्द एवायं साधक इति बोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति. द्वारिकेश्वरैस्तु

“आभासश्च निरोधश्चे”ति वाक्यलिखनेन “नच लक्षणलक्षितया यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ती”तिवदत्र दशसङ्ख्यापूरकसर्वफलरूपोत्र विवक्षित इत्याशय उद्घाटितः. तथा च “या-या साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये. तथा विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय” इतिवाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः. मम त्वन्यदपि प्रतिभातिः यथाक्रूरेण प्रसन्नप्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकटितभक्तिमार्गफलदानानुकूलः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेणाश्रयदानं कर्तुं समयविशेषे प्रार्थितस्तदो कृतवानिति तज्ज्ञापकमिदं प्रार्थनाघटितं स्तोत्रमिति. अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण. तत्र गतिशब्दः फले रूढः, “सा काष्ठा सा परा गतिः” “अन्ते या मतिः सा गतिः” “नान्या भवेद्वृत्तिरिन्दमे”ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धैः. समाप्तौ तु “तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण” इत्याश्रयत्वं पाठफलत्वेनोक्तम्. आश्रयशब्दश्च सहाये रूढः, “सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः” “भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयै” रित्यादौ तथाप्रसिद्धैः. कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः “कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निवृत्तिवाचकः. तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते” इतितापनीयश्रुतेः, “पापकर्षणो ह वे”ति च. ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरुक्मिण्युद्धाहोत्तरं श्रीयशोदां प्रति भगवद्वाक्येपि “कृषिरुत्कृष्टवचनो णश्च सद्भक्तिवाचकः. अश्चापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधाः” “कृषिश्च परमानन्दे णश्च तद्दास्यकर्मणि. तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः” “कोटिजन्मार्जिते पापे कृषिः क्लेशे च वर्तते. भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः” इति त्रिधा निरुक्तः. तत्र तृतीयेन ‘पापकर्षण’ इतितापनीयश्रुतिरूपबृंहिता. गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्याख्यायां च “कृषिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः. सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयत्वतः” इति. बृहद्गौतमीयेपि “कृषशब्दो हि सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः. सत्तास्वानन्दयोर्योगाच्चित्परं ब्रह्म चोच्यते” इत्येताभ्यां पूर्वश्रुतिरूपबृंहिता. अत्र प्रथमे सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता सत्ता भावपदेनात्मपदेन च व्याख्याता “रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्. सत्तामात्रमि”तिदशमस्कन्धवाक्येन भगवत्स्वरूपं तेन सम्बन्धिदानात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः, तां “प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते सा जातिः सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादय” इति वाक्यपदीयोक्तरीत्या मूलसद्रूपाभिन्नानन्दरूपत्वेन कृष्णत्वं विवृतं, द्वितीये च प्रत्याहारन्यायेन सदानन्दयोरन्तश्चित्तं निवेश्य सच्चिदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं विवृतमितिभेदाः. अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणप्रसङ्गे गर्गेणोक्ताः पञ्च सन्ति तास्ततो ज्ञातव्याः. आनन्दे च निरवधित्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्यानन्दमयाधिकरणे स्थितम्. “यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य” इति छन्दोगश्रुते “र्यतो वाचो निवर्तन्ते” इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च. फलं द्विविधं, साध्यमभिव्यङ्ग्यं च. तत्राद्यं यथा परशोऽच्छिदा. द्वितीयं तथा योगात्मसुखम्. तत्र परे ब्रह्मण्याद्यरूपत्वस्याभावादिद्वितीयरूपतैव वाच्या. तत्र हेत्वपेक्षायां “यमेवैप

वृणुते तेन लभ्य” इतिश्रुत्या स्वीयत्वेन वरणे यत्साक्षाद्दर्शनं तदेव हेतुः. तथा सति “नायमात्मा प्रवचनेन” त्यादिपूर्वोद्धे उपलक्षणविधया साधनान्तरनिषेधश्रावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति. तदेव च ब्रह्मावैवर्तोपबृंहणेष्वपि सिद्धम्. तदेतत् सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणायादृष्टशास्त्रेऽनुरुध्यमार्गाणां कालादीनां सन्निपत्याराच्चोपकारकाणामसाधकत्वं दोषाश्च वदन्त उक्तरीत्या स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोऽस्त्विति प्रार्थयन्तिः

**सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मणि ।**

**पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥१॥**

सर्वे च ते मार्गाश्च. “मृजूषू शुद्धौ” मृज्यन्ते शोध्यन्त इति. “मृग अन्वेषणे” मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरन्विष्यन्त इति मृगाः, स्वार्थेण त एव मार्गाः “योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया. ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोन्योस्ति कश्चने” त्येकादशे भगवतोक्ताः स्वप्राप्त्युपायाः तेषु नष्टेषु अनुशास्तदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णो व्याख्यातरीतिको भगवानेव मम गतिः साधनफलरूपोऽस्त्विति सम्बन्धः. अत्र “यस्य च भावेन भावलक्षणमि”त्यनेन भावलक्षणा सप्तमी. अनुशास्तदौर्लभ्यादौ हेतुः स्वलधर्मणि कलौ लोके पाषण्डप्रचुरे सतीति. चोवधारणे. खलोन्तर्दुष्टे धर्मो यस्मिन्नसौ खलधर्मा “धर्मादिनश्च केवलादि” त्यनेनानिच. खलधर्मत्वे हेतुलोकानां पाषण्डप्राचुर्यम्. पाषण्ड उपधर्मो जैनदयादिसदृशस्तस्य प्राचुर्यं बाहुल्यम्. कलावित्यधिकरणे सप्तमी. आधारत्वं चात्राभिव्यापकतया कालिकसम्बन्धेन गौणौपश्लोषिकतया वा. तथाचैतादृशे कलावीदृशे लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथेत्यर्थः. “षष्ठी चानादरे” इत्यनेनानादरे वा कलाविति सप्तमी. हेतु-हेतुमद्भावास्तु समभिव्याहारादेव लभ्यः. तथाचैतादृशे लोके एवमार्गेषु सत्सु कलिमनादृत्य तद्भयं त्यक्त्वा तथेत्यर्थः. “कलेर्दोषनिधे राजन्” “कलिं सभाजयक्त्यार्या” इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुतेस्तत्र साधकत्वभ्रमवारणाय कीर्तनस्यापि यथाकथञ्चित्कृतस्य न फलसाधकत्वमिति बोधनाय चात्र कलिलोकयोर्दोषकथनम्. ‘कृष्ण’पदा ‘त्स’पदाच्च नैतद्वाक्यविरोध इति बोध्यम्. तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयितृन्निश्चित्य भगवानाश्रयणीय इति भावः. यद्वा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु “वादवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कञ्च न संश्रयेदि” तिसप्तमस्कन्धीयनारद वाक्यानुसन्धानेन विवक्षितमार्गस्यैव दृढग्रहणात् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वतरतमभावादिकलहे नष्टे. चकारोत्र तन्नाशसमुच्चायकः. तथा सति तथेत्यर्थः. एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्यानरीतौ कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्वितिपदानां, कलावित्यस्यैव वाग्रिमश्लोकपञ्चकेनुषङ्गो बोध्यः. एवद्रीत्या व्याकुर्वन्तः प्राञ्चः सर्वेपि विशेष्यान्वितस्यैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकतयांशकलावतारव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्माकमप्यभिप्रेतम्. श्रीरघुनाथास्तु ‘खरधर्मिणी’ति पाठान्तरमप्युपन्यस्य खरश्चासौ धर्मश्चेति कर्मधारयान्मत्वर्थीयेनप्रत्ययं बहुव्रीहिविग्रहे ‘क’प्रत्ययापत्तिभिमाहुः, चकारं च कलिव्यतिरिक्तकालसमुच्चायकमाहुः, मायातरणे



प्रपत्यतिरिक्तसाधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाशयः. प्रार्थना तु सर्वमतेष्वन्यार्था ॥१॥

एवं कालदोषेण सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपपाद्य कालस्य साधारणत्वेन देशानामसाधारणत्वेन पदपेक्षयान्तरङ्गत्वात्तत्र च “काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या. या जन्ममौज्जीव्रतमृत्युदाहैर्तृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिपि”त्यादिभिर्देशस्तावकवाक्यैः साक्षात्साधकत्वस्य “देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितानि” त्यादिभिर्वाक्यैर्मार्गानुकूलतायाश्च प्रतीतेः प्राप्तं तथात्वभ्रमं वारयितुं काले देशदोषादिकं वदन्त आहुः म्लेच्छेत्यादि.

**म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।**

**सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥२॥**

अत्रापि भावलक्षणा सप्तमी. चोवधारणे. कलावित्यनुपज्यते. देशेषु म्लेच्छैर्यवैः उपलक्षणमेतत् अतितामसैरिति यावत्, तैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु. व्याप्तिरत्र तदाज्ञाद्यनुरूपस्थितिकत्वम्. तदाज्ञानुरूपस्थितौ को दोष इत्यत आहुः पापेत्यादि. “एके मुख्यान्यके वलाः” तत्पुरुषगर्भः कर्मधारयः. **पापानां** व्यभिचारचौर्यदौर्ज्यादीनामेकनिलयेषु मुख्यस्थानेषु. ते हि लुब्धाः कामिनो हिंसाश्च, ततस्तत्र व्यभिचारादिकं कुर्वन्ति चौर्यादिकं कारयन्ति च. तदवलोकलोका अपि पैशुन्यशाम्भल्यादिना तथा विदधतीत्येष दोष इत्यर्थः. ननु न सर्वे तादृशा इति नैष दोष इत्यतो दोषान्तरमाहुः सत्पीडेत्यादि. सतां स्वधर्मवर्तिनां पीडया मिथ्याभिशापदण्डादिरूपक्लेशेन व्यग्रा उद्विग्रा लोकाः सम्यज्जो जना येष्विति. एवं च कलिकृतास्तेषु चत्वारो दोषा उक्ताः. तामसप्रभुत्वम्, पापबाहुल्यम्, सत्पीडा, सदुद्वेगश्चेत्येतैरुपद्रवेण सम्यकर्तुमशक्त्या सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥२॥

एवं कालेन देशदोषादिकमुपपाद्य तेषां बाह्यत्वेन जलस्य चान्तःप्रवेशवहिः सम्बन्धाभ्यां शोधकतया देशापेक्षयाप्यन्तरङ्गत्वात्तत्र च “सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम्” “कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी. ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर” “प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेमलाशयाः” इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूलत्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन तत्रापि दोषं वदन्त आहुः गङ्गादितीर्थवर्त्येष्विति.

**गङ्गादितीर्थवर्त्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।**

**तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥३॥**

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावभेदेन च ये दूषितास्तैरेव वेष्टितेषु. अत्रापि भावलक्षणैव सप्तमी. तथाच “किञ्चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजकत्यधम्. मृजामि तदघं कुत्र राजस्तत्र विचिक्त्यतामि”तिनवमस्कन्धे भगीरथं प्रति गङ्गावाक्यादुदुष्टावरणेन तेष्वपि

शक्तिकौण्ठ्यदोष इत्यर्थः. ननु “साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः. हरकृत्यद्यं तेङ्गसङ्गातेष्वास्ते ह्यधभिद्धरिरिति तत्रैव गङ्गां प्रति भगीरथवाक्यात्तादृशां सङ्गादिना तन्निवृत्तेस्तस्य प्रायिकत्वान्नायं दोष इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेष्विति. देवानां समूहो दैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देवसमूहे विद्यमानं गङ्गादेर्देवतारूपम्, तिरोहितं अधिदैवं यस्मिन्तिरोहिताधिदैवम्. तथाच देवसंसदि विद्यमानं यद्गङ्गादेराधिदैविकं रूपं तत्तिरोहानाच्छक्तिकौण्ठ्यतादवस्थमित्यर्थः. यद्वा, तिरोहित आधिर्यस्य तत्तिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमूहो येष्विति. “तत्तेषां न प्रियं यन्मनुष्या विद्युरिति” “विप्रस्य वै सक्क्यसतो देवा दारादिरूपिणः. विघ्नं कुर्वक्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परमि”ति श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्यमुक्तिस्तेषां न प्रियेति तन्निवृत्त्यर्थं वाराहपाद्यादौ मुक्त्यभावाय भगवत्प्रार्थनावदत्र तीर्थादौ दुष्टेष्वविशय प्रतिबन्धन्तस्तिरोहिताधयो भवक्यतः शक्तिसद्भावेऽपि दोषतादवस्थयमतः कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः. एतेन “तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद् भवेत्. कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय” इतिनिबन्धोक्तौ युक्तिरपि प्रत्यक्षादिरूपा दर्शिता ॥३॥

अतः परं “न ह्यम्यानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः. ते पुनक्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधव” इति वाक्यात्तदपेक्षयान्तरङ्गत्वेन तेषां च सङ्गस्य “प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः. स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्” “सतां प्रसङ्गात्” “सन्त एतस्य छिन्दन्ति” “सत्सङ्गेन हि दैतेया” इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूलत्वप्रतीतेस्तत्र तथात्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहमारेत्यादि.

**अहमारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।**

**लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥४॥**

अत्र “हानां कर्तृत्व” इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी. **कलौ सत्सु मार्गप्रचारकेषु** पुरुषेष्वहमारेण स्वपाण्डित्याभिमानेन **विशेषतो मूढेषु सत्सु.** तथात्वे गमवद्वयमाहुः **पापेत्यादि. पापाः** पापकर्तारो राजसास्तामसाश्च म्लेच्छादयस्तदनुवर्तिषु तदुपजीविकेषु. अक्रूरादेः कंसाद्यनुवृत्तिवदनुवर्तित्वेष्वप्यदोष इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभेत्यादि. लाभो द्रव्यादेः, पूजा उन्नतिः, अर्थशब्दो द्रव्यान्ते श्रुतः प्रत्येकं सम्बध्यते, तेन तदर्थं यत्नोबाह्याभ्यन्तर उद्यमो येषामिति. एतद्द्वयं विमूढत्वज्ञापकम्. तथाच मार्गप्रचारकेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्गो दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥४॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तरङ्गत्वात्तत्र च “परिहाय्यापि वेदास्त्रीन् कर्माणि विहितानि च. गायत्रीमात्रमाश्रित्य द्विजो भवति निर्भयः” “गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्फलाः” “सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु नारीषु नानाद्वयजन्मभेषु. दाता फलानामभियाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एष” इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्मन्त्राणां

तथात्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं वदन्तु आहुः अपरीत्यादि.

**अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।**

**तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥५॥**

अपरिज्ञाननष्टेष्विति. अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गो भावलक्षणा सप्तमी च. “मन्त्रस्य च परिज्ञानमि”त्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः. परिज्ञानं नाम गुरुपसत्त्वादिना विधानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु. स्वरूपस्य श्रावणत्वेऽपि शुद्ध्यभावेन “उत त्वः पश्यन् ददर्श वाचमि”तिवददृश्यमानेषु. क्वचित्कस्यचित्परिज्ञानदर्शनाददोषान्तरमाहुः अव्रतयोगिष्विति. “अव्रता बटवोऽशौचा” इतिद्वादशस्कन्धे कलिधर्मयुक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलावासब्रह्मचर्याध्ययनधर्मपरिपालना भावादव्रतेषु योगः सम्बन्धो येषां तादृशेषु. तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरोहितार्थदेवेष्विति. तिरोहितावप्रतीयमानौ अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च देवोधिष्ठात्री देवता तौ येषाम्. “य एनं शुष्के स्याणौ निपिश्चेज्जायेरञ्चछाखाः प्ररोहेषुः पलाशानी”त्यादिश्रुतिप्रभृत्युक्तनिदर्शनव्यभिचारेण तदुभयतिरोभावस्य स्फुटत्वान्न तेषामिदानीं सादकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥५॥

अतः परं मन्त्रापेक्षयापि स्वधर्माणां व्रतानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन सुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वात्तत्र च “स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरन्नाशीः काम उद्भव. न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन् समाचरेत्” “इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोनधः शुचिः. ज्ञानं विशुद्धभाप्नोति मद्भक्तिं च यदृच्छये”त्येकादशस्कन्धीयैः. “केदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते” “तथा चैकादशी ह्येका गर्भवासक्षयमरी. एकादशीसमं पुण्यं न भूतं न भविष्यति”त्यादिभिः पुराणान्तरीयैर्भगवद्वाक्यैः आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत” इत्यादिभिर्भारतीयैश्च वाक्यैर्धर्मव्रतादीनां साधकत्वादिप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः नानेत्यादि.

**नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।**

**पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥६॥**

नानाप्रकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकास्तैर्विशेषेण स्वरूपेण फलदिना च नष्टेषु तिरोहितेषु. तत्र स्वरूपतो नाशो वेदबाह्यानां वादात्. “यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्” “अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम्. प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका” इत्यादिरूपात्. फलतो नाशस्तु यथैकादशीव्रतादौ “शुक्रेण मोहिता विप्रा दैत्यानां कारणे भुवि. तुष्टयर्थं दशमीविद्धं कुर्वन्ति मम वासरमि”ति प्राप्ते “पुरा देवैर्ऋषिगणैः स्वपदच्युतिशङ्कया. सप्तमीवेधजालेन गोपितं चाष्टमीव्रतं”मिति स्कान्देऽन्यत्र च निषेधनिन्दादेवैधस्वरूपनिर्णयस्य च विद्यमानत्वेऽपि तदनादृत्य स्वस्वाग्रहेण वाक्याभासात्रयाभासांश्च समुदाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्थले बोध्यः. एवं स्वधर्मचारयोरपि विप्रतिपत्त्वा फलतो नाशो बोध्यः. वादे प्रयोजकमाहुः

पाषण्डेति. पाषण्डेन दम्भेन एकोन्यः प्रयत्न उद्यमो थेषामिति. स च “वेश्यावेशमसु सीधुगन्विललनावक्रासवामोदितैर्नीत्वा निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निद्रचन्द्रक्षपाः. सर्वज्ञा इति दीक्षिता इति चिरात्प्राप्ताग्निहोत्रा इति ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूतैर्ज्जगद्गच्छते” इतिवद्बोध्यः. अत एव भूयोदर्शनात्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥६॥

एवं षड्भिर्भक्त्यादिभार्गाणां दुःसाध्यताज्ञपनाय काल कृतसर्वसन्मार्गनाशबोधनमुखेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम्, तदिदं तदा दृढीभवति यदा भगवानाश्रिते स्वमाहात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः **अजामिलादीति.**

**अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।**

**ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥७॥**

अजामिलादीति. अजामिलः षष्ठस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मबन्धुः. आदिपदेन गजेन्द्राहल्याद्या, नृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयमृत्युप्रसङ्गे उक्ता नारकिणश्च, तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः. एतेन तादृशमाहात्म्ये तदनुभावेन च शब्दः प्रमाणमुक्तम्. प्रत्यक्षमाहुः अनुभव इत्यादि. अनुभवेऽस्माकं स्थितो विषयीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन प्रपन्नस्य मायातरणे सति प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवाग्रे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम्. ततश्च पूर्वमार्षे शब्दे श्रीमदाचार्यचरणोक्तौ वोभयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां विना सर्वं ज्ञापयन्तद्रोचरो भवतीति सूचितम्. कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥७॥

एवमत्र शब्दप्रत्यक्षाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतिब्रह्मवैवर्तादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गीयाणां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगौतमीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं साधयन्ति प्राकृता इत्यादि.

**प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।**

**पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥८॥**

देवा अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्या, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशत्वा, “अग्निरवमो देवानां विष्णुः परमस्तदन्तरेणान्या देवता” इत्याग्न्यादयो विष्णवन्ताः. अत्र विष्णुः कालः, “स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां वर” इतिवाक्यातदन्ता वा. अकारं ब्रह्माणं नाभावुकारं विष्णुं हृदये प्रकारं रुद्रं भूमध्य इति प्रणवपात्राधिष्ठातारो विश्वादयो वा प्रजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा. ते सकलाः कला अंशस्तत्सहिताः, सर्वे प्राकृताः, प्रकृतिर्माया “मायां तु प्रकृतिं विद्यादि”तिश्रुतेस्तदधीनाः. कालस्य क्षोभकतया गुणानुरोदित्वेन गुणाधिष्ठातृणामभियानित्वेन च प्राकृतत्वम्. बृहदक्षरं गणितानन्दकं, गणितः “स एको मानुष आनन्द” इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने “स एको ब्रह्मण आनन्द” इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवसङ्ख्यात आनन्दो यत्र, स्वार्थं कस्तादृशम्.



तेन तुरीयकोटिनिविष्टा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याद्युक्ता गुणावतारा अपि तत्रैव प्रविशन्तीतिबोधितम्. हरिः पुरुषोत्तमोऽ“क्षरात्परतः परः” स उत्तमः पुरुषः. “अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम” इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यः. पूर्णानन्दः शतानन्दसङ्ख्याने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मानेवागोचरतामेव प्रतिपाद्य तदुत्तरानुवाके “यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह. आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कु तश्चने”तीतिश्रुतावानन्दस्य मनोवागगोचरत्वकथनेन तदपेक्षयाधिक्यस्यानवधित्वस्य च बोधनात्तथा. तस्मादानन्दे निरवधित्वस्यैव परमफलतावच्छदकत्वेन तस्य चात्रैव विश्रान्तेः कृष्णः पूर्वोक्तरीतिकः मम परमफलरूपोस्त्विति पूर्ववत् ॥८॥

एवमष्टभिर्भगवत्स्वरूपविचारेणाश्रय एव सर्वथा साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः साधक इति साधितम्. अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये सिद्धेति तदङ्गाभावेऽपि यथा स फलं साधयति तमुपायं वदन्त आहुः विवेकेत्यादि.

**विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।**

**पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥९॥**

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्वेच्छातः सर्वं करिष्यतीत्येतद्विचारपूर्वकमनुसधा

नं विवेकः. सात्त्विकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं धैर्यम्. माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च. आदिपदेन तदङ्गानि. साङ्गे ज्ञानकर्मणी च. तै रहितस्यैतेन यावत्साधनराहित्यं सूचितम्. बाधकसत्तामाहुः विशेषतः पापासक्तस्येति. आसक्तिः सङ्गतिशयोपरिहार्यःसङ्ग इति यावत्. एतावता नाराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत” इतिवाक्यस्मारणाद्भक्त्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकमपि सूचितम्. एवं बाधकद्वयसद्भावेऽपि येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीनस्येति. एवं साधकाभावबाधकसद्भावाभ्यां जातया म्लान्या दीनस्य. दौर्गत्यादेरनोजस्त्वं दैन्यम्. अनोजस एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत्. एवंप्रकारिकाया ग्लानेरसतां दुरापत्वात् सतां मर्यादिकानां ग्लानौ साधनान्तरेषु प्रवृत्तेरत्र तु तादृशग्लानिप्रपत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया “सोहं तवाङ्गी”त्यत्रोक्तानुग्रहस्य स्वस्मिन्कारणत्वेन सत्ता ज्ञाप्यते. एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्गीतायां “मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य” “अपि चेत्सुदाराचार”इत्यत्र भगवताज्ञप्ता. नव पूर्ववाक्ये पापयोनीनां गतिरुक्ता न तु पापकर्मणाम्, द्वितीये चानन्यभजनेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्वाश्रयेणेति नैतद्व्ययमाश्रयेण सिद्धेर्गमकमिति शङ्क्यं, “सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत्. अभयं सर्वभूतेभ्यो ददात्येतद्ब्रतं ममे”तिपुराणान्तरीयभगवद्वाक्याच्च भगवतस्तादृशे ब्रते निश्चिते ततो भगवदनुग्रहेणैव तत्र प्रवृत्तावपि

माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहस्यैव द्वारत्वनिश्चयादनन्यभाक्त्वसिद्ध्या, द्वितीयस्या “नित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि”ति भजनशेषतया निरूपित्वेन प्रथमस्य चाञ्जस्यात्. अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥९॥

एवं नवभिर्विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेप्येतदुक्तरीतिकदैर्न्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम्. अतःपरमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वसामर्थ्येत्यादि.

**सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।**

**शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥१०॥**

“परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत” इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च यावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादित “मजामिलादी”तिपद्येन. “एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति” “एष ह्येवानन्दयाती”त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् “आकेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि”त्यनेन ताच्छील्ये क्विप् कर्ता. एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाज्ञप्तो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्गवर्तिनां समुद्धारं सम्यक् आज्ञप्तमार्गप्राप्यपरमफलपर्यन्तमुद्धारं विज्ञापयामि. सामानाधिकरण्यादध्याहारानाक्रमाच्च प्रथमान्तद्वयमहम्पदस्यैव विशेषणं वा. तथा च तादृशदैन्याभावेपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदाढ्येपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेवोद्भविष्यतीत्यर्थः ॥१०॥

अतः परमेतन्निश्चयदाढ्यगमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः **कृष्णाश्रयमित्यादि.**

**कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।**

**तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥११॥**

कृष्ण आश्रयतेनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम्. आश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रल्हादचरित्रे “यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं श्रुत्वेनुपपाठ च. न साधु मनसा मेने स्वपरासदृहाश्रयमि”ति सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम्. एतदन्वर्थनामकमिदमुक्तं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत्. इतीममर्थं श्रीवल्लभोऽब्रवीदुक्तवानिति. तथाचैवमेतत्पाठ एव पूर्वोक्तनिश्चयदाढ्यगमक इत्यर्थः. एवं च विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतत्स्तोत्रार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधावेतत्स्तोत्रपाठः. तत्राप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरणविश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक – **केवलवाचनिक – शरणागतिरूपं निर्दिष्टम् ॥११॥**

इदंप्राचां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, मम त्वन्योप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति.

तथाहि अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः. एवं सति तदधिकारिष्वेव मन्दमध्यमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः. अत एव विवेकधैर्याश्रयसमाप्तौ ‘भक्त्यादिमार्गा’ इत्युक्तम्. अन्यथैकादशे “योगास्त्रयो मये” त्यत्र “ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे”ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्वकथनं विरुद्धं स्यात्. अतोऽत्र भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं “त्वथैतपरमं गुह्यमि” त्यत्रोक्तायाः. तथासति सा भक्तिरादिर्येषां तादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा बालादिभावेन भजनरूपास्ते यतो दुःसाध्या इत्यर्थो भवति. एवं सति तत्र तत्रानधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिक आश्रयः, अत एव “स्वाम्यभिप्रायसंशयात्” “गोपभार्यवत्” इति स्वामिपदं तदृष्टान्तश्च सङ्गतौ भवतः. अतः परं तत्राप्यनधिकार इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैवानुकल्परूपम्. एतन्मार्गप्रविष्टानामतिजघन्यतमाधिकारिणा मेतन्मार्गफलसम्बन्धो यया प्रणाड्या भवति तामनुसन्धायास्योक्तवत्त्वात्. तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम्. तत्र भगवत्स्वरूपं तूक्तमेव. किञ्चाभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्वयाभिन्नरसात्मा स्वयं भवति. उपबृंहितं चेदं ब्रह्मवैवर्तीयश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु: “वर्धते सा ब्रजे राधा शुक्ले चन्द्रकला यथा. श्रीकृष्णतेजसोर्धेन सा च मूर्तिमती सती” “एका मूर्तिर्द्विधा भूता भेदो वेदे निरूपितः. इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानयमि”ति. “पिताहमस्य जगतो माते”ति गीतायां च. तथासत्याचार्याणामपि “वैश्वानराद्वाक्पतेः” “वस्तुतः कृष्ण एवे”ति च वाक्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयमुखारविन्दात्मकत्वमुभयात्मकत्वं च सिद्ध्यति. किञ्च, सप्तश्लोक्यां सर्वोत्तमे च “श्रीभागवतप्रतिपदे”त्यादि “तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह”इति चोक्तम्. एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् प्रति यथा वदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्तोत्रमप्येवं व्याख्यायते तदापि न दोषः. तथासत्यस्यार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षप्रियत्वेन चात्र परोक्षवादाल्लक्षणाप्यदुष्टैव. ततश्चायमर्थः. तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिप्रोक्तेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु नष्टेषु तदप्रापकतया स्वान्तःकरणेऽनुपायतया भातेषु. खलोन्तर्दुष्ट ईर्ष्यारूपो धर्मो यस्मिंस्तादृशे कलौ कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृपातिशयख्यातिविषयके नष्टे हृदयादपयाते. चकारेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते. पाषण्डः कलहजननकारणरूपो धर्मः प्रचुरो यस्मिंस्तादृशे लोके सख्यादौ चादृश्यमाने. विरहेण तेषु दोषारोप “स्तस्याधमस्यान्तिकमि”त्यादिवत्, अतो न दोषः. एवं सति दुःखितस्य मम कृष्णः सदानन्दस्तादृशतापे हृदि विभाव्यामान एव गतिर्बहिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यध्याहृता प्रार्थना. अत्रैवं

सर्वसाधनवैफल्यबोधनेन स्वस्यातिखेदः. एवकारेण तादृशसमये “रुरुदुः सुस्वरं राजन्नि”त्यत्र फलप्रकरण इव भगवतः प्राकट्यावश्यकत्वं च द्योत्यते. एवमग्रेपि बोध्यम् ॥१॥

अतः परं भगवन्मिलनस्थानभूतानां देशानामप्यनुपायत्वमाहुः. म्लेच्छाक्रान्तेत्यादि. म्लाना रसमार्गविरोधिनीच्छा येषां ते म्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तैर्देशेषु वृन्दावनादिष्वक्रान्तेषु. किञ्च, पापैकनिलयेषु.पातीति पः स्थायिभावः सः अपः अक्षरको यत्रासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनिलयेषु “सोयं वसन्तसमयो विपिनं तदेतत् सोयं निकुञ्जविटपी निखिलं तदास्ते. हा हन्त – हन्त नवनीरदकोमलङ्गोनालोकि पुष्पधनुषः प्रथमावतार” इतिवत्तद्वोधकत्वेन तदेकस्थानेषु. चोवधारणे. तेन पूर्वमत्थात्वमनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते. किञ्च, सतः शरीरस्य या पीडा तथा व्यग्रा लोकाः स्वीयैकान्तभक्ता येषु. एतादृशेऽवसरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥२॥

अतः पर तादृशां तीर्थानामप्यसाधकत्वमाहुः. गङ्गेत्यादि. इह वृन्दावनादिदेशे गङ्गा “सितासिते सरिते यत्र सङ्गत” इति श्रुतौ तस्याः पूर्वं पठितत्वात्सादित्यर्थः सा गङ्गादिः, यमुनातत्प्रभृतीनि तीर्थवर्याणि घट्टविशेषाश्चन्द्रसरोवरश्रीकुण्डाद्या, ‘नद्यस्तदे’ त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतद्भावरहित्येन दुष्टैरेतद्भावरहित्येन दुष्टैरेवावृतेषु व्याप्तेषु. किञ्च, तिरोहिताधिदैवेषु. तिरोहितमगोचरमपि उपरि दैवं “दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि”ति कोशादस्मद्भाग्यं, “त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दध”द्यत्र. यदुपरि भगवानिदानीं न दृश्यते चिह्नानि सन्तीति “श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मृतं नैव शक्नुम” इतिवदधिकतापजनकेष्विति भावः. तथाचैतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥३॥

अतः परं सत्सङ्गस्याप्यसाधकत्वमाहुः. अहमारेत्यादि. निन्दानां सर्वत्र तापाधिक्यमेव बीजं ननु तेषु दोषो बीजम्. अहमारेणास्मद्विशो भगवानस्मत्प्रार्थित एवान्यत्र फलिष्यतीत्येवंरूपेण विमूढेषु स्तब्धेषु. किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोक्तरीतिको विरहस्तमनु लक्ष्मीकृत्य वर्तन्त इति तथा. तथाच पूर्वं यद्वशा इदानीं तैरपि सह न मिलतीति. तद्रमकं लाभपूजार्थयत्नेषु. लाभो भगवत्प्राप्तिस्तदार्था पूजा लाभपूजा तदर्थं यत्न उद्यमो येषाम्. पूर्वं भगवत्प्राप्तये कात्यायन्यर्चिता पुनरिदानीमपि यत्कुर्वन्ति तेन ज्ञायते न मिलतीति. लीलानां नित्यत्वात्तापेनासक्तिभ्रमवत्तदाविर्भावात्तेष्वप्यमिलननिश्चयः. सत्सु किं तत्सङ्गेनेति कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥४॥

अतः परं ततोप्यतितापेन गुरुणां हार्दं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः. अपरीति. अः भगवान् तस्य परिज्ञानं स्वभावज्ञानं “न नन्दसूनु”रितिप्रस्थानसामयिकविलापस्थश्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसाधकतया तैर्ज्ञितेषु.

अत एव अत्रतयोगिषु ज्ञानगोचरत्वेपि जपादिनियमायोगिषु. तत्रापि हेतुः तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्याप्रासङ्गिक - मुख्यमहिषीप्रासाङ्गिक - समर्पणादिप्रासङ्गिकेषु सत्सु. कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥५॥

अतः परं ततोप्यतितापाधिक्येन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः नानेत्यादि. नानाप्रकारका वादा नानावादाः. भगवान् मथुरायामेवं पुरवनितादीनां कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्युध्यति, द्वारकायामुज्जयिन्यां प्रागज्योतिषुरे इन्द्रप्रस्थादावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीत सन्देशादितत्संवादादिरूपा वा, तैर्विनेष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्ब्रतादिषु. किञ्च, पाषण्डः कापट्यं, तेनैको मुख्यः प्रयत्नो बहिरुद्यमो येषां यत्सम्बन्धी. तथाच तादृशेष्वेतद्गोपनायलोकिकवैदिकविहितमार्यादिक कर्मभगवद्ब्रतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तत्कृतिरपीति तादृशेषु तेषु सत्सु, “धारयक्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने”त्येतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥६॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःप्रादुरभूततस्तयावस्थयाहुः अजामिलादीति. जामि आलस्यं “जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वज्जौ पुरोडाशावि”त्यादिश्रुतौ तथासिद्धत्वात् “आत्मा यावत्प्रपन्नोभूद्”त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च. न जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्णत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च. तदुपसंविज्ञानः. शैद्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजका इति यावत्. तथाच तादृशा ये दोषा मानादय आज्ञाद्यकरणादयश्च तेषां नाशकः. अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे च स्थितो गोचरीभवन्. ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावादि मथुराद्वारकास्थित्यादि तत्तल्लीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षभजनाविस्मरणातिप्रियत्वरूपो येन तादृशः. कृष्ण एवेति पूर्ववत्. एतेन योग्यतमानामप्येतादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यथेति. अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥७॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदत्रोपयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त आहुः प्राकृता इत्यादि. प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः. सकलाः, कला भगवदनुरञ्जनचातुर्यं तथा सह वर्तमानाः. देवा भगवता सह क्रीडापराः. किञ्च, बृहदक्षरं गुहायां परमे व्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सङ्ख्यात आनन्दो येषां प्रजापत्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् स्थितिमात्रेण सकलदेवानां सुखदम्. तथा पूर्णानन्दः कर्मधारयेण बहुव्रीहिणा च हरिः देवानन्दतिरोभावहर्ता कृष्ण एव तस्मान्मम तर्थात्थः. तथाचैतन्मार्गीय फलं केवलपरमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकरभगवन्माहात्म्यं यद्गवज्ज्ञापितं

तत्सूचितम् ॥८॥

एवमनुग्रहम् तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेनुसंहिते यावस्था तथाहुः विवेके त्यादि. विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीरसेवा. आदिपदेन तत्तत्साधनानि, तै रहितस्य. विशेषतोत्यन्तं पापेन पूर्वोक्तविरहात्मकेन असक्तस्य मुक्तसमस्तसङ्गस्य, अत एव दीनस्य तत एवानोजसः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥९॥

एवमतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहिःप्रादुर्भूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दमध्यमेष्वेवं विलम्बाभावाय विज्ञापयन्ति सर्वेत्यादि. अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव शक्यमिति तादृशः सन्. तादृशत्वस्य गमकमौदार्यमिति सर्वत्रैवाङ्गीकृतमात्रे अखिलार्थानां पुष्टिपुष्टिमोक्षरूपाणां कृत् ! करणशील ! कृष्ण ! पूर्वोक्तश्रुतिपुराणव्याख्यातरूप ! श्रीरघुनाथचरणैः कृष्णपदं सम्बुद्ध्यन्तत्वेन व्याख्यातमित्यस्माभिरपि तथोक्तम्. द्वितीयान्तपक्षेपि क्विबन्तमेव. शरणास्थानामेतन्मार्गरीत्या शरणागतानां फलपर्यन्तमुद्धारं अहं भगवदनुभावप्रकटनार्थाज्ञयावतीर्णः विज्ञापयामि. एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतश्च तथोद्धार आवश्यकता सूचिता ॥१०॥

विज्ञापनां वदन्ति - कृष्णाश्रयमित्यादि. कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रीरूपः स्वामिनीभावपूरितत्वात् वल्लभो भागवतः प्रिय आचार्यवर्योब्रवीदिति, यः पठेत् एवमनुसन्धानो योस्मद्विप्रयोगावस्थां ज्ञापयन् कृष्णसन्निधौ व्यक्तं कथयेत्तस्य कृष्ण आश्रयो भवेदिदं विज्ञापनमित्यर्थः. स्तोत्रस्य प्रत्यक्षत्वेनेदमा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, शब्दान्तरानध्याहाराच्च, अत्र दुरान्वयोप्यदुष्ट एव. “विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विससर्ज ह”. “विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतिं प्रिया”मित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराच्च श्रीरूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शमालेश इति. यथाधिकारं सर्वा एव टीका उपयुज्यन्त इति न क्वापि शमालेश इति. दिक् ॥११॥

इति श्रीवल्लभाचार्यप्रकटीकृतमद्भुतम् ।

स्तोत्रं कृष्णाश्रयकरं विवृतं तत्प्रसादतः ॥१॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलचञ्चरीकश्रीश्यामलात्मजश्रीव्रज-

राजविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।

## कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

### विवरणसमेतम् ।

यत्कृपादृष्टिवृष्ट्येकबिन्दुस्पर्शं रसाद्रता ।

कृष्णलीलाब्धिजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥१॥

तानेव श्रीमदाचार्यचरणानाश्रये मुदा ।

तेनैव मम तद्वाक्यबोधो बोध्यो हि जायते ॥२॥

पुष्टिमार्गादिलीलाभिः स्वानन्दं पूरयन्निजम् ।

स्वाश्रयं कुरुते यश्च तमहं कृष्णमाश्रये ॥३॥

अथात्राश्रयो द्वेधा निरूप्यते मर्यादापुष्टिभेदेन. तत्र मर्यादया य आश्रयः स तु स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः. पुष्टिमार्गीयस्तु गूढः, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूपनिरूपणपूर्वकं निरूप्यते. तत्रापि कालादिषट्साधनानां फलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं सम्भावयन्ति. एवं सति यादृशः पुष्टिमार्गीयाणामाश्रयस्तादृशोत्र निरूप्यते प्रकारसहित इत्यवगम्यते. तथाहि प्रथमं परमकृपालुः साक्षात् भगवान् स्वयं निरूपधिकरूपावत्तात्पुष्टिफलदानेच्छया यं वृणुते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्भूतसहजानुरागतो भगवत्सेवादौ प्रवृत्तिर्भवति न तु तदव्यतिरिक्तधर्मेषु. ततस्तादृशानुरागपूर्वकसेवादिकरणोल्लसितप्रमासक्तिजनितपुष्टिमार्गीयभावामुराणां “भगवता सह संलाप” इत्याद्युक्तप्रकारकभावनाया अवश्यसम्भवात्तत्र तद्गर्भप्राकट्ये विजातीयसङ्गानुरोधादन्तः स्वरूपानुभवप्रतिबन्धे सति तदपेक्षाजनितात्या भगवदव्यतिरिक्तस्य तन्निर्वृत्तेरशक्यत्वाच्छरणगतिरुत्पद्यत इति श्रीमदाचार्यचरणस्तत्स्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वेपि.

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।

पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥१॥

तादृशपुष्टिमार्गीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, एक एव प्रमेयमार्गस्तिष्ठति, यतस्तेषु फलत्वासाधकत्वबुद्ध्याऽरुचिरेवेति तत्यागकरणान्नष्टा एवेत्यर्थः. अथवा “णश अदर्शने” इति धात्वर्थविचारेण नष्टा अज्ञाता वा. तेषां दर्शनज्ञानयोरप्येतन्मार्गे प्रतिबन्धकत्वादितिभावः. ननु भक्तानां कलिकालः साधको भवतीति तन्निष्ठमार्गाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य बाधकत्वाहुः

खलधर्मिणीति. कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तदव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोषत्वमेवेति तन्नष्टत्वात् खलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेपि. यद्यपि “कलेर्दोषनिधे राजन्” “कलिं सभाजययन्ती”त्यादिवचनैः कलेर्भगवद्भजनानुकूलत्वमुक्तं, तथाप्यधुनानवतारसामयिकत्वेनाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् प्रत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तथोक्तम्. भौतिककालस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या. फलमपि मुक्तिरेव न ततोऽग्रिमकक्षापन्ना. अत एव पाषण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम्. धर्मव्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वात्तथोक्तमितिभावः. तानेव धर्ममार्गानुत्तरश्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति. एवं सति तत्तत्काले तत्तद्गर्भानाचरणे तेषां दोषबुद्धिरेवोत्पद्यत इति तत्समक्षं तत्तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्बोधे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम्. चकारादूहेपि तथा. “गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः” इतिवचनात्तत्रापि सेवाकरणे क्रमणे स्नेहासक्तिजनितभावनाया जातत्वात्तत्रत्यानां तदभावात्तत्सङ्गोस्य बाधको विजातीयभाववत्त्वादित्यर्थः. अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालतदुक्तमार्गाणां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणप्रकारमाहुः. पाषण्डेति. लोके पुष्टिमार्गीये पाषण्डप्रचुरे सति सत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः. यद्वा, पाषण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्मगोपनेन बहिरन्यधर्मकरणं तदेव प्रचुरो यस्मिंस्तादृशे सति. यथा न कोपि जानाति तथा कर्तव्यमापन्नमितिभावः. एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्तभावानामुच्छलितत्वाभावात्फलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भगवानेव नान्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणमुपदिष्टम्. शरणं गते कृपया स एव सर्वं करिष्यतीतिभावः ॥१॥

ननु तर्हि भगवल्लीलाप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेत्तत्रापि प्रतिबन्धकबाहुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति म्लेच्छेति.

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।

सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥२॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति म्लेच्छा विषयिणो, मन्त्राद्युपासकाः, कर्ममार्गीयाश्च. यद्यपि तेऽनिषिद्धं विहितमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती” त्याद्युक्त्या कर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां तथात्वेन निर्देशः कृतः. तादृशैस्तैराक्रान्ताः सर्वे प्रदेशा, अत एव तत्तल्लीलादीनां तिरोभावान्न ते साधका इतिभावः. स्वगृहं तु भगवदीयत्वादनुकूलमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम्. तावतापि यत्र प्रतिबन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धिशेखरसंसर्गेण भावनाशो किमु वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायेनापि देशस्यासाधकत्वं निरूपितम्. किञ्च, न केवलमाक्रान्तिमात्रं किन्तु तद्भूमय एव जाता इत्याहुः पापैकनिलयेष्विति. कर्मणां हिंसाप्रचुरत्वात्तथोक्तम्. एतेन तत्र गमनमात्रेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीतिभावः. एवं सति भगवतो मन्त्रोपासनाद्यस्पृष्टत्वेनास्मिञ्छल्लोके



मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षाचर्यानां सङ्गहेणासाधकत्वं निरूपितम्. आदिपदेन विहितभक्त्यादीनामपि तथेत्यर्थः. ननु तत्रापि केचन निवृत्तिपरा भविष्यन्तीति चेत्तत्राहुः सत्पीडेति. निवृत्तिपरत्वेन सद्रूपाणि तत्रत्यानां देहेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, तद्देशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति तन्निग्रहाशक्त्यान्निवृत्तिपराणां खेदो जायत इति तद्रूपैव स्वधर्मनाशजनिता पीडा तथा व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्यग्रा लोका धर्मशीला येषु. यत्र स्थूलदृष्टीनामपि न धर्मनिर्वाहस्तत्रातिसूक्ष्मेक्षिकाणां तादृशानां भावशैथिल्ये किमु वाच्यम्. तादृशानामग्रेपि स्थातुमशक्तेरितिभावः. तथाचोक्तं “अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमि”त्युत्र विवरणे “यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी”ति फलप्रकरणे. अतस्तद्भावपोषणे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम्. अत एव “वालौकिकमनःसिद्धावि”ति विवेकधैर्याश्रयेप्युक्तम् ॥२॥

एवं दुःसंसर्गेण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते समीचीनास्तै सह सङ्गो न बाधक इत्याशङ्क्यय द्रव्याणामशुद्ध्या पुष्ट्य तेषामपि सङ्गो बाधक इतीतरमार्गीयाणामसाधकत्वमाहुः गङ्गादीति.

**गङ्गादितीर्थवर्षेषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।**

**तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥३॥**

गङ्गादितीर्थवर्षा भक्ताः. अयं भावः. “अस्ति गङ्गायां त्रिरूपमि”ति सिद्धन्तमुक्तावल्यां स्फुटीकृतं, तन्निविधत्वमत्रापि ज्ञेयम्. तेन जलरूपाधिभौतिकादिभेदेन प्रवाहभक्तिमार्गीयज्ञानमार्गीयमर्यादाभक्ति

मार्गीया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवाह भक्तिमार्गीयाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति. यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्यादाभक्तिमार्गीय भक्तत्वात्तन्मार्गीयभक्तानामेवादौ निरूपणं सम्भवति तथाप्याधिभौतिकादिक्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजलस्यैव प्रथमनिरूपणादत्राप्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गीया एव ज्ञेयाः. अग्रिमाणामुत्तरश्लोकेषु निरूपणम्. तथाच पदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदिर्येषां तानि गङ्गादीनि, तस्या एवाधिदैविकादिरूपाणि, तद्रूपा एव “तीर्थभूता”आदिसाधकवचनाद्भक्ताः, परन्तु दृश्यमानजलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गीया एव. कर्ममार्गीयापेक्षायोक्तमत्व ज्ञापनाय ‘वर्षं दम्. तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तद्दोषैरित्यर्थः. तादृशैर्धर्मव्रतेष्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः. ननु भगवद्भर्मनिष्ठेषु कथं तद्भर्माणामावरकत्वं तत्राहुः. तिरोहिताधिदैवेष्विति. तिरोहितमधिदैवस्वरूपं येषु. यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा प्रवाहमार्गेपि साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपतिरोधानम्. विभूतिरूपस्यैव तेषां भजनं तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैविकभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणगतिमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति. अत एव “द्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति सा सेवानाधिदैविकी”त्युक्तं सेवाफले. प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधकत्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्द

स्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं सर्वत्र शरणागतौ. एतेन तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुष्ठुक्तम् ॥३॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः समबुद्ध्य एकान्तस्थितयः तत्सङ्गः साधको भविष्यतीति तेषामपि मायामोहितत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावेना साधकत्वं निरूपयन्तः कर्तृणां तन्निरूपयन्ति - अहमारविमूढेष्विति.

**अहमारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।**

**लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥४॥**

ते तु “अहं ब्रह्मास्मी”त्यहमारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभावस्यापि गतत्वाद्विशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु. ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने सम्पन्ने ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः सम्भवतीति तत्राहुः पापानुवर्तिष्विति. “स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन” इतिवाक्यापुष्टिमार्गीयाणां फले प्रतिबन्धकत्वासाक्षात्पुरुषोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वात्तदनुवर्तिनां पापानुवर्तित्वमेवेति तथोक्तम्. किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसम्भावनैव नेत्यपिज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम्. ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्यतीति तत्राहुः. लाभपूजार्थयत्नेष्विति. तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां तदनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरूपासनारूपा, तदर्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु. नह्यात्मन ऐक्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानुभवज्ञानं च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम्. बहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दानुभवोपि. प्रकृते तु पुष्टभावापन्नस्य “भगवता सहे”त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां साक्षात्स्वरूपानुभवो, बहिःप्राकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमितिभावः. तदुक्तं निरोधवर्णने “समत्पादपि तत्र हि” “दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टमि”त्यादिना. एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य न तत्सङ्गः. साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥४॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि पेमयुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन नामनिष्ठाः, केचन सेवैकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं “सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः” “सतां प्रसङ्गा”दित्यादिनेत्याशङ्क्य तयोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठानामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तन्निरूपयन्ति अपिरज्ञानेति.

**अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।**

**तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥५॥**

यद्यपि “एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत”मित्यत्र “मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानी”त्युक्त्या भक्तानां नामैव परो मन्त्रः तत्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदानन्दानुभवजनिताश्रुपुलकादयोपि भवन्ति तथापि तेषां

मर्यादामार्गीयत्वात्स्वरूपतोऽपरिज्ञानमेवेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सत्सु. यादृशः कृष्णपदस्य रसात्मकभावरूपोऽर्थस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम्. ननु कथं सोऽर्थो न लक्षितस्तमाहुः. अत्रतयोगिष्विति. व्रतं अनन्यत्वं पतिव्रतावत्पतिविषयकपरमानुरागजनितरसात्मकभावेन तदेकनिष्ठारूपं, तदभावतोऽव्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगः संयोगो येषामिति तथात्वमुक्तम्. ननु तेष्वपि नामधर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुः. तिरोहितेति. तिरोहितः अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः प्रकटः स यत्र तादृशेषु सत्सु. अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिधे ! वासुदेवेत्यादीनि मोक्षेच्छुभिरुच्यन्ते, नहि पुष्टिमार्गीयैरिव “व्रजजनार्तिहन् वीरयोषिताम्” “सुरतनाथे”त्यादीनि रसात्मकानि तानि. तेषां मर्यादामार्गानुसारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्ट्यनुसारेणेति न तत्सङ्गस्तस्य साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥५॥

ननु ये सेवापरास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यव्रतेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषामव्रतत्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां तदाहुः - नानावादेति.

**नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।**

**पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥६॥**

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोत्तमास्तथापि तेषां मर्यादामिश्रत्वात्सर्वकर्मव्रतादिषु सर्वं पुष्टिमार्गीयं यावत्प्रमेयं कर्म तन्मार्गीया सेवा “भगवता सहे”त्यादिरूपा व्रतं लोकवेदनैरपेक्षयेण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावादविनष्टेषु सत्सु. नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादामार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विशेषेण नष्टा अलक्षितास्तादृशेषु सत्सु. तेषां मर्यादामिश्रत्वेन विहितैकदृष्टित्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः. अत एव “मर्यादया गुणज्ञास्ते” इति निरूपितं पुष्टिप्रवाहमर्यादायाम्. ननु तेषु भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं तदज्ञानं तत्राहुः. पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति. पाषण्डो नामोपाधिस्तद्रूप एवैकः प्रयत्नस्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु. तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वात्तत्प्रयत्नादीनां पुष्टापेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम्. अत एव मध्यमफलत्वं सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले “सेवायां फलत्रयमि”त्यनेन. किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाभक्तिमार्गैकफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं “सर्वत्यागेनन्यभावे” इत्यनेन. पुष्टिफलं तु केवलं तादृशानुग्रहभरेण सर्वात्मना निरूपधिभावैकसाध्यमिति तादृशस्यापि सङ्गो न साधक इति शरणमेव निरूपयन्ति कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥६॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावतुष्टिमार्गीयस्य के पुरुषार्थाः ? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवतस्तद्रूपनिरूपणपूर्वकं चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति. तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति - अजामिलादिदोषाणामिति.

**अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।**

**ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥७॥**

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि. कामो हरेर्दृष्टैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुवमि”त्यत्रोक्ताः पुरुषार्था मर्यादामार्गीयेभ्यो भिन्ना उपाधिरहिता इति. तत्र हरेर्दास्यं धर्म उक्तः. तच्च “पुरुषभूषण देहि दास्यमि”त्यत्र स्वरूपात्मकत्वेन निरूपितमिति भगवतो धर्ज्ञरूपत्वं सिद्धम्. एवं सति धर्मेण तथा दोषनिवृत्तिर्निदोषतासिद्धिश्च भवति तथा भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टप्रापकोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं निरूपयन्ति. तथाहि - अजामिलादयः प्रबलदोषदुष्टास्तद्रूपा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घातास्तेषां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः. अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणायां “भगवता सह संलाप” इत्याद्युक्तप्रकारकभावनायामन्तर्ली

लासहितसाक्षात्स्वरूपप्राकट्ये सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रियाणां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोऽत्र दोषस्तन्नाशकः. यथाऽजामिलस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य मिथो गुणगानलक्षणनामात्मकलीलाया तत्तदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तथाक्तम्. अनेन दोषनिवृत्तिर्धर्मकार्यमुक्तम्. इष्टप्राप्तिं निरूपयन्ति अनुभवे स्थित इति. दोष दूरीकृत्य तत्तदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दमनुभावयतीतिभावः. अनेनेष्टप्राप्तिरूपं धर्मकार्यमुक्तम्. एतत्सर्वं निरोधवर्णने “संसारवेदशुद्धानामि”त्यारभ्य “हरिवत्सुखमि”त्यन्तेन स्फुटीकृतम्. ततोपि विशेषमाहुः - ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति. ज्ञापितमखिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन. अत एव व्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः पुष्टिप्रवाहमर्यादायामपि “पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा” इत्युक्तम्. भगवति साक्षादन्तःप्रकटे तल्लीलाधर्माणामप्याविर्भावात्तज्ज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्. एवं सति तादृशस्य तादृग्भावपोषणादौ ईदृग्धर्मरूपो भगवानेव शरणमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् ॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतत्वात्तदधिष्ठातृणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरित्याशङ्क्य तेषां सर्वसङ्घातरूपः कृष्ण एव भवतीति तस्यैवार्थरूपत्वं निरूपयन्तः शरणगतिमाहुः - प्राकृता इति.

**प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।**

**पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥८॥**

प्रपञ्चनिरूपणप्रस्तावे “जडे सदंशः प्रकट इतरावाच्छन्नौ, जीवे आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशस्तिरोहित” इतिनिरूपितम्. पुष्टिमार्गीयस्य तु साधनदशायां सेवागुणगानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति. तथाचोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां “ततः संसारदुःखस्ये”ति. तत्रैव पुनः विवरणे “यद्यप्यनभिलषिते ते तथापि वस्तुस्वभावाद्भवत” इत्युक्तम्. सिद्धान्तरहस्येपि “सर्वेषां ब्रह्मता तत” इत्युक्तम्.



“सच्चिदानन्दता स्वतः” इति निरोधविवरणेष्युक्तम्. एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठातारस्ते सच्चिदानन्दरूपाक्ष्यात्मकत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सकला जाताः. कला रसात्मकब्रह्मविद्यारूपा तत्सहिता जाताः. गणितानन्दरूपमक्षरं ब्रह्म, ‘क’प्रत्ययेन ततोपि ह्रस्वोत्तितुच्छो जीवः स बृहज्जातस्तदपेक्षयापि महान् जातः. उभयत्र हेतुः पूर्णानन्दो हरिरिति. यतः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावोत्तत्सम्बन्धिरसात्मका भावा उत्पद्यन्ते इति तज्जनितचरुार्तिशाक्त्यर्थमन्तस्तत्तदिन्द्रियादिषु तवस्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददानेन दुःखं हरतीति यथोक्तम्. एवं सत्यक्षरात्मत्वेनाप्राकृतत्वे किं वाच्यम्. किन्तु तस्य समस्तसङ्घातः साक्षाद्रसात्मकलीलारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति कुतस्तत्र दोषावकाश इति भावः. तदेव “श्रीमद्रोकुलजीवात्मा श्रीमद्रोकुलमानसमि”त्याद्युक्तम्. यत एवं भगवत एवाथैरूपत्वं तस्मात्तस्य तथात्वसिद्ध्यै शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥८॥

एवमर्थरूपं निरूप्येतादृशस्य प्रचुरार्तिशाक्त्यर्थं बहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलावण्यसाक्षाद्भगवतः सङ्गस्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं प्रार्थयन्ति विवेकेति.

**विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।**

**पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥९॥**

अत्रेदमाकृतम्. पुष्टिमार्गीयभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागस्यावश्यकत्वात्त्यागानन्तरं पुनः क्रमेण मिथो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानामुच्छलितत्वात्तादृशस्य देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम्. एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे चक्षुरागादिप्रपानाशान्ताः सप्तावस्थाः सम्पन्नाः. अस्मिञ्छलोके उन्मादाद्यवस्थात्रयं निरूप्यते. तथाहि विवेकः, धैर्यं, भक्त्यादयस्तै रहितस्य. विवेकरहित्ये विकलत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति. तच्चोन्मादावस्थायां भवतीति सा निरूपिता. धैर्यराहित्येनाहर्निशं साक्षात्सङ्गाभावजप्रचुरार्तिजनितमस्वास्थ्यं तिष्ठति. ननु पूर्वं गुणगानेऽन्तः साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं तत्राहुः – भक्त्यादिरहितस्येति. गुणगानदशायां पूर्वमन्तः प्राकट्ये साक्षाद्भक्तिरूपमुखारविन्दसुधास्वादात्. आदिपदेन साक्षाद्भोगः. साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवात्स्वारस्थ्यं स्थितमिदानीं प्रलापावस्थायां फलप्रतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगिवाक्याद्यकरणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्रहितस्येत्युक्तम्. तत्रापि यत्किञ्चित्स्वास्थ्येपि फलप्रतिबन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम्. तथाचोक्तं सक्क्यासनिर्णये “भगवान् फलरूपत्वात्” “स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्य”मित्यादि. एवमस्वास्थ्येपि स्वास्थ्यावाक्याद्यकरणे प्रचुरार्त्या मूर्च्छामापतति सा दशा निरूपिता. ततः पुनर्जाग्रदवस्थायां स्वरूपस्थितौ सङ्गाभावेन स्थातुमशक्तं गुणावलम्बितचित्तं पुनर्भवति तेन च यत्किञ्चित्स्वास्थ्ये तदेव फले प्रतिबन्धकं

भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तत्रासक्तस्येत्युक्तम्. अत एवोक्तं “ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधका” इति सक्क्यासनिर्णये. ततः पुनः क्षणानन्तरं स्थितिरेव न भवतीति दशम्यवस्था निरूपिता. एतत्सर्वं फलप्रकरणीयतृतीयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम्. तत्र गुणगानानन्तरमनाविर्भावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं लीलाप्रवेशप्रलापः स्वरूपस्थितौ गुणगानमिति निरूपितम्. अग्रे पुनरतिदैन्ये जाते “रुदुः सुस्वरं” “तन्वः प्राणमिवागत”मित्यादिनाग्रिमा सा सूचितेति सर्वमुपपन्नम्. एतादृशस्य पुनः शीघ्रमाविर्भावार्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम्. एतदनन्तरं सर्वथाऽऽविर्भूय परमानन्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम्. तथाचोक्तं “ब्रह्मा विष्णू रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात” इति “तासामाविरभूत्कृष्ण” इत्यस्याभासे ॥९॥

एवं दशावस्थाभिः पूर्णविप्रयोगानुभवे जाते प्रतिबन्धकदेहनिवृत्तौ तस्यालौकिकं रसात्मकं लीलोपयोगिदेहादिकं सम्पाद्य स्वयं साक्षात्प्रकटीभूय बहिः स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति.

**सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।**

**शरणस्थसमुद्भारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥१०॥**

**कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।**

**तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोब्रवीत् ॥११॥**

सर्वं यावदलौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुणानां कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्सहितः सन् तम्प्रति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः. एतदेवोक्तं “भगवानपिता रात्री”रित्यत्र ‘भगव’त्पदेन स्वतन्त्रलिखने. ननु प्रभोः सर्वं सम्भवति परं तादृशेन प्रभुणा सह साम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुवचो जीवस्य तत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति. “पुष्टिं कायेने”तिवाक्यात्तादृशं तं भक्तं साक्षाद्रसात्मकस्वचरणारविन्दम करन्दरजसाऽलौकिकदेहादिसम्पत्तिपूर्वकं लीलासमाजे प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहप्राणेन्द्रियादिष्वखिलार्थान् रसात्मकालौकिकवयो गुणादिरूपान लौकिकैश्वर्यगुणादिसामर्थ्यरूपान् करोतीति तथोक्तमत एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले. एतत्सर्वं “यथार्थकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम” इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं “स्वसामर्थ्यदियोजने”त्यादि. एवं स्वरूपात्मकतां सम्पाद्य स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपितम्. अत एव “मोक्षः कृष्णस्य चेद्भुव”मित्युक्तम्. ननु मोक्षे आनन्दमग्नता तिष्ठति प्रकृतेपि तथैव चेतस्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शरणस्थसमुद्भारमिति. अत्र शरणपदं सर्वात्मभावपरम्. अलौकिकसृष्टिः सर्वैतादृग्भाववत्येवेति शरणस्थस्य सर्वात्मभावस्थस्य – पूर्वोक्तभक्ततत्तल्लीलानन्द समुद्रमग्नस्य तत उद्भारं करोतीति शेषः. अन्यथैकस्यां लीलायां मग्नस्य द्वितीया साननुभूतैव तिष्ठेत्. एतत्सर्वं “यत एतद्विमुच्यत”इत्यत्र स्फुटीकृतम्. यद्वा, लीलानुभवदशायामपि तत्प्रभावादेव दैन्यभाव उत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्थेतिपदम्. अथवा, अतः परं सर्वांशेन शरणस्था जाता इति वा ज्ञापनार्थं शरणे

स्थित्यर्थ उक्तः. तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता. किञ्च, एवं पूर्णस्वरूपानन्दानुभवानन्तरं श्रीमदुद्धवोपदिष्टज्ञानेन यादृशो निरोधः सिद्धस्तादृशो निरूपित इति ज्ञापनायोद्धारं सम्यक्त्वमुक्तम्. एवं सति सदा पलरूपपूर्णनिरोधस्थित्यनन्तरं तस्य स्वस्मिन् साक्षात्पुरुषोत्तमाभिन्नत्वज्ञानं भवतीति मुक्तिलीला निरूपिता. तत आश्रयलीलां निरूपयन्ति कृष्णमिति. तं पुनः केवलशुद्धभावात्मकत्वेन सङ्घातस्य स्वरूपत्वाधारत्वेन स्वस्वरूपात्मकं केवलानुभवान्(?) बालकभावरूपं कृष्णं करोतीत्याश्रयलीला निरूपिता. 'कृष्ण'मित्यत्रापि करोतीतिक्रिया योज्या. अत एव "ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं प्रत्यापत्ति" रित्युक्तं 'बर्हापीडे'तिश्लोकविवरणे. एवं सति निरोधलीलानन्तरं "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः". "मुक्तानामाश्रयः कृष्णः" इति स्कन्धद्वयार्थरूपं मुक्त्याश्रयलीलाद्वयं निरूपितं पदद्वयेन. एतावदेवेप्सिततममितिपदद्वयस्य कर्मत्वेन निरूपणम्. पूर्वं सर्वसमर्थत्वेन स्वतन्त्रकर्ता प्रभुरिति प्रथमान्तपदं दत्तम्. अग्रे स्वेप्सितत्वेन पदद्वयं द्वितीयान्तमुक्तं, तेन तादृशः प्रभुरेव स्वेप्सितं करोतीतिक्रियाध्याहारेण कर्तृकर्मक्रियान्वयसम्बन्धोत्र ज्ञेयः. एवं ग्रन्थार्थोपि सम्यग्योजितो भवतीति सर्वमवदातम्. अतःपरं दशविधलीलानां पूर्णत्वादाश्रयाय सदा कृत इति कृष्ण एवेत्यग्रेणोक्तम्. अत्र कृष्णावतारलीलानां नित्यफलावधित्वमुद्देशेन लक्षितमिति स्वरूपात्मकत्वेपि लीलानां नित्यत्वज्ञापनाय न कण्ठोक्त उपसंहारः कृत इतिभावः. एवं साधनफलस्वरूपविवेकेनाश्रयं निरूप्य तस्य लोभनिष्ठसुधैकफलत्वेन तस्याश्च भगवद्भोग्यैकभोग्यत्वाददेयतमत्वेन प्रभोर्निवेदनीयमिति तदग्रे कृत्वा निवेदयन्त आहुः विज्ञापयाम्यहमिति. किञ्चिदतिशेषः. किं तदित्याकाङ्क्षायामाहुः इदमिति. यदग्रे कृतं तद्विनये मे प्रत्यक्षतोङ्गुल्या निर्दिष्टम्. किं ते तदपीति तत्राहुः स्तोत्रमिति. तर्हि समीचीनं कृतं प्रीतोहं किमियद्विज्ञाप्यत इति चेत्तत्राह कृष्णाश्रयमिति. कृष्ण आश्रयो यस्मिन्निति तत्स्वरूपनिवेदनं कृतम्. एतेनाश्रये कृते आश्रितपक्षपातस्य त्यक्तुमशक्यत्वात्तन्निर्बन्धेनादेयतममपि पराकाष्ठापन्नं वस्तु तस्मै देयं भवतीति स्वकीयानामार्तिघ्नं भवति अतिविनयेन विज्ञापनमेवोचितमिति श्रीमदाचार्याणां हृदयमिति ज्ञापितम्. अत एव एवं विज्ञाप्य तत्पाठफलं निरूपयन्ति य इति. कृष्णस्य भावात्मकस्य सन्निधौ सति पुष्टिमार्गीयस्योद्भूतभावामुरस्य भावरूपत्वेनान्तस्तत्सान्निध्यं भवतीति तथोक्तम्. तत्सान्निध्यार्थं वा पठेत्तस्यैवाश्रयो भवेदिति. य इति मदतिरिक्तोन्योपि स्वीकृत इत्यर्थः. इदं त्वतिकारुण्यमत्यौदार्यं चरित आचार्याणाम्. नन्वेवं विज्ञापनेपि भगवता तन्नोरीकृतं चेत्तदा कथं फलसिद्धिस्तत्राहुः श्रीवल्लभोब्रवीदिति. इतिति पूर्वोक्तं विज्ञापनं श्रीवल्लभः साक्षाद्गोपीशोऽब्रवीत् अङ्गीकृत्याज्ञप्तवानित्यर्थः. अथवा श्रीवल्लभः स्वयमेव श्रीरूपाणां स्वामिनीनां वल्लभः परमवात्सल्यास्पदीभूतः. अत

१ केवलानन्दानुभवात्मकमिति युक्तं स्यात्.

एव ताः स्वरहस्यं सर्वं कथयन्तीति तासां गुरुत्वं निरूपितं सक्क्यासनिर्णये. अतिप्रियाय गुरुः स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात्. एवं सति तद्वल्लभत्वेन प्रभोरपि परमप्रेमास्पदीभूत इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृतं भगवतेति ज्ञापितम्. अत एव यतोङ्गीकृतमिति हेतोरब्रवीदित्याह, फलमित्यर्थः. किञ्च तद्वल्लभत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न पुनस्तदुक्तिः कण्ठोक्ता. अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमवदातम् ॥१० - ११॥

अतिमलिनतराशये मदीये किमयमपूर्वतरोदयो विलासः ।

निरूपधिकरुणैकविभ्रमोपि वितरणशीलविभोरतोद्भूतं नः ॥११॥

व्रतवतो महती किल ते कृपा मदपराधगणा अपि तादृशाः ।

अभयतौल्यविचारणया विभो विजयते तव सैव गरीयसी ॥१२॥

अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वके ।

श्रीमदाचार्यचरणान् आश्रये करुणानिधीन् ॥१३॥

प्रणतालोकसज्जातकरुणादृष्टिभिः क्षणात् ।

सन्तापं हरति श्रीमद्विठ्ठलेशं तमाश्रये ॥१४॥

इति श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।